राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक :- पद्मश्री जिनविजय मुनि, पुरातत्त्वाचार्य

[सम्मान्य संचालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

ग्रन्थाङ्क ६८

समदर्शी आचार्य हरिभद्र

प्रकाशक

राजस्थान राज्य संस्थापित

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

RAJASTHAN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, JODHPUR

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिल भारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषानिबद्ध
विविध वाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

पद्मश्री जिनविजय मुनि, पुरातत्त्वाचार्य

सम्मान्य संचालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर,
ऑनरेरी मेम्बर ऑफ जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटी, जर्मनी,
निवृत्त सम्मान्य नियामक (ऑनरेरी डायरेक्टर)
भारतीय विद्याभवन, बम्बई; प्रधान सम्पादक,
सिंघी जैन ग्रन्थमाला, इत्यादि

ग्रन्थाङ्क ६८

समदर्शी आचार्य हरिभद्र

प्रकाशक

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

समदर्शी आचार्य हरिभद्र

[बम्बई यूनिवर्सिटी सञ्चालित ठक्कर वसनजी माधवजी
व्याख्यानमाला में दिये गये पाँच व्याख्यान]

व्याख्याता

पण्डित सुखलालजी संघवी, डी. लिट्.

अनुवादक

शान्तिलाल म. जैन

एम. ए., शास्त्राचार्य

प्रकाशनकर्ता

राजस्थान राज्याज्ञानुसार

सञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर (राजस्थान)

विक्रमाब्द २०१९ } भारतराष्ट्रीय शकाब्द १८८४ { खिस्ताब्द १९६३

प्रथमावृत्ति १००० } { मूल्य ३.००

मुद्रक—श्री सोहनलाल जैन, जयपुर प्रिन्टर्स, जयपुर

अनुक्रमणिका

संचालकीय निवेदन

राजस्थान पुरातन ग्रंथमाला का प्रारंभ करते समय मन में यह भावना थी कि राजस्थान की विविधरंगी ज्ञानश्री का दर्शन जिज्ञासु को कराना। अबतक जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनमें जो वैविध्य है वह किसी भी पाठक से छिपा नहीं है। हमारा यह प्रयत्न रहा है कि राजस्थान में जो सांस्कृतिक सामग्री छिपी हुई पड़ी है उसको प्रकाश में लाना। इस दृष्टि से हमने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी भाषा के अनेक विषय के ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। और, अब राजस्थान की साहित्यिक-श्री के निर्माताओं में अग्रणी आचार्य हरिभद्र के जीवन की तथा उनके दर्शन और योग विषयक साहित्य में योगदान की विशद् व्याख्या करने वाला पंडितप्रवर श्री सुखलालजी संघवी का 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' नामक ग्रंथ प्रकाशित करते हुए हमें परम प्रमोद का अनुभव हो रहा है।

आचार्य हरिभद्र का बाल्यकाल आधुनिक चित्तोड़ के पास स्थित प्राचीन भग्नावशिष्ट माध्यमिका नगरी में बीता था। जैन दीक्षा लेने के बाद तो समग्र राजस्थान और गुजरात में उन्होंने विचरण किया होगा। आचार्य हरिभद्र ने किस विषय में नहीं लिखा? कथा-उपदेश से लेकर तत्कालीन विकसित भारतीय दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ उन्होंने लिखे। कथाकार, धर्मोपदेशक, वादी, योगी और समदर्शी तत्त्वचिन्तक के रूप में वे अपने साहित्य के माध्यम से हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। उनके इस बहुदर्शी जीवन में से समत्व को प्रदर्शित करनेवाले योग और दर्शन विषयक ग्रन्थों का अध्ययन करके पंडितप्रवर श्री सुखलालजी ने बंबई यूनिवर्सिटी में गुजराती भाषा में जो व्याख्यान दिये थे, प्रस्तुत ग्रंथ उनका हिन्दी अनुवाद है। इसमें आचार्य हरिभद्र की योग और दर्शन विषयक साहित्य में जो अपूर्व देन है उसकी विशद व्याख्या की गई है। आचार्य हरिभद्र वैदिक, बौद्ध और जैन तीनों परंपराओं के योगविषयक साहित्य से पूर्ण परिचित थे, किन्तु साहित्यिक परिचय होना एक बात है और योग का अनुभव दूसरी बात। आचार्य हरिभद्र के योगविषयक ग्रंथों में जिस समन्वयदृष्टि का दर्शन हमें होता है वह केवल अध्ययन का परिणाम न होकर अनुभवजन्य भी है। यही कारण है कि वे, परिभाषा का भेद होते हुए भी, विविध योगमार्गों में अभेद का दर्शन स्वयं कर सके और भावी पीढ़ी के लिये अपने अनुभव का निचोड़ अपने योगविषयक ग्रंथों में निबद्ध भी कर सके। आचार्य हरिभद्र की तत्त्वचिंतक

दृष्टि से दार्शनिकों के वादों की निस्सारता भी ओझल न रह सकी। यही कारण है कि उन्होंने अपने शास्त्रवार्तासमुच्चय नामक ग्रंथ में सब दर्शनों में परिभाषाभेद के कारण होनेवाले विवाद का शमन करके अभेद दर्शन कराया है। इतना ही नहीं, किन्तु 'कपिल आदि सभी दार्शनिक प्रवर्तकों का समान रूप से आदर करणीय है, क्योंकि वे सभी समान भाव से वीतरागपद को प्राप्त थे'–इस बात का तर्कसंगत समर्थन भी आचार्य हरिभद्र ने किया है। राजस्थान की एक विभूति ने भारतीय योगमार्ग और दर्शनमार्ग में इस प्रकार अभेददर्शन उपस्थित किया, यह राजस्थान के लिये गौरव की बात है। अतएव 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' का प्रस्तुत प्रकाशन राजस्थान पुरातन ग्रंथमाला में हो, यह सर्वथा समुचित है।

'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' के लेखक–व्याख्याता पंडितप्रवर श्री सुखलालजी मेरे परम श्रद्धेय मित्र हैं। उनकी तलस्पर्शी विद्वत्ता का विशेष परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार आचार्य हरिभद्र के जीवन का सार समदर्शित्व है उसी प्रकार पंडित श्री सुखलालजी का जीवनकार्य भी समत्व की आराधना है। उन्होंने भी समग्र भारतीय दर्शनों का अध्ययन किया है और विरोधशमन के मार्ग की शोध की है। उनके समग्र साहित्य की एक ही ध्वनि है कि विविध विचारधाराओं में, फिर वे दार्शनिक हों, धार्मिक हों या राजनैतिक, किस प्रकार मेल हो ? जन्म से गुजराती होकर भी उन्होंने गुजराती की ही तरह राष्ट्रभाषा हिन्दी को भी अपने साहित्यलेखन के माध्यम के रूपमें अपनाया है। उनके हिन्दी लेखन का आदर करके राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने उन्हें महात्मा गांधी पुरस्कार प्रदान किया, जो अहिन्दीभाषी लेखकों को हिन्दी में उच्च कोटि का साहित्य लिखने के कारण दिया जाता है। उनके गुजराती साहित्य का आदर करके भारत सरकार प्रतिष्ठित साहित्य अकादमी ने उनके 'दर्शन अने चिंतन' नामक गुजराती लेखों के संग्रहग्रंथ के लिये ५०००) का और बंबई सरकार ने २०००)का पुरस्कार दिया था। प्रस्तुत 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' के लिये भी गुजरात सरकार ने पुरस्कार दिया है। इनके अतिरिक्त अन्य भी कई पुरस्कार उन्होंने प्राप्त किये हैं। उन्होंने संस्कृत-प्राकृत में कई ग्रन्थों का संपादन किया है। उनके संपादनों में तुलनात्मक टिप्पणों की विशेषता है, जो उनके द्वारा संपादित ग्रन्थों के पूर्व दुर्लभ थी। उनके संपादनों में विस्तृत प्रस्तावनाएँ लिखी गई हैं, जो तत्तद्विषय का हार्द खोलकर वाचक के समक्ष रख देती हैं। ई. स. १९५७ में अखिल भारतीय स्तर पर उनका सम्मान बंबई में किया गया। तब तत्कालीन उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने उनके शिष्यों और प्रशंसकों के द्वारा एकत्र की गई करीब एक लाख की निधि उनको समर्पित की थी। उसका श्रीपंडितजी ने

ज्ञानोदय ट्रस्ट के नामसे एक सार्वजनिक ट्रस्ट बना दिया है। भारतीय धर्म और संस्कृति के विषय में अध्ययन और लेखन को प्रगति देने के लिये उस ट्रस्ट के धन का उपयोग सार्वजनिक रूप से होता है। मैंने एक राजस्थानी आचार्य के विषय में लिखा गया ग्रन्थ राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो यह इच्छा श्रद्धेय पंडित श्री सुखलालजी के समक्ष प्रदर्शित की, तब पंडितजी ने उसे सहर्ष स्वीकार किया और ज्ञानोदय ग्रन्थमाला में प्रकाशित न कराकर हमें वह दे दिया। एतदर्थ ग्रन्थमाला की ओर से मैं उनका आभार मानता हूं। यहाँ मैं यह भी निर्दिष्ट कर देना चाहता हूं कि ज्ञानोदय ट्रस्ट के ट्रस्टियों ने ही गुजराती से हिन्दी में अनुवाद के लिए खर्च किया है। एतदर्थ मैं ज्ञानोदय ट्रस्ट का भी आभार मानता हूं।

बंबई यूनिवर्सिटी द्वारा ये व्याख्यान दिये गये थे और उस यूनिवर्सिटी ने ही गुजराती में उन्हें प्रकाशित किया है। उनका हिन्दी अनुवाद ज्ञानोदय ट्रस्ट प्रकाशित करे इसकी अनुमति यूनिवर्सिटी के अधिकारियों ने श्री पंडितजी को दी थी। उन्होंने उसी अनुमति के बल पर हमें इसे प्रकाशित करने की अनुज्ञा दी है। अतएव यहाँ बंबई यूनिवर्सिटी का भी आभार मानना आवश्यक है।

आशा है, प्रस्तुत प्रकाशन से समस्त राजस्थान का विद्वद्वर्ग अपने एक अतीत समदर्शी विद्वान् आचार्य का परिचय पाकर गौरव का अनुभव करेगा और अन्य हिन्दी भाषाभाषी विशाल वाचकवर्ग भी राजस्थान के इस बहुमूल्य विद्वद्रत्न का परिचय पाकर अपने को धन्य समझेगा।

मुनि जिनविजय

सम्मान्य संचालक

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

आषाढ़ी पूर्णिमा,

सं० २०२० वि०

प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद

मूल गुजराती व्याख्यानों का यह हिन्दी अनुवाद अहमदाबाद की श्री ह० का० आर्ट्‌स कॉलिज के संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के प्राध्यापक श्री शांतिलाल म० जैन ने किया है। कई मित्रों का यह आग्रह था कि हिन्दी में ये व्याख्यान प्रकाशित हों यह आवश्यक है; अतएव मैंने बम्बई यूनिवर्सिटी से हिन्दी में प्रकाशन की अनुमति मांगी, जो उसके अधिकारियों ने सहर्ष दी। एतदर्थ मैं उनका आभारी हूं। पहले यह विचार था कि यह अनुवाद ज्ञानोदय ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया जाय, किन्तु मेरे सहृदय मित्र और राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के अध्यक्ष आचार्य श्री जिनविजयजी ने राजस्थान पुरातन ग्रंथमाला में प्रकाशित करने की इच्छा प्रदर्शित की। मैंने साभार यह मंजूर किया और यह सुन्दर हिन्दी प्रकाशन अब वाचकों के समक्ष उपस्थित है। हिन्दीभाषी जिज्ञासुओं की तृप्ति यदि इस अनुवाद से होगी तो मैं अपना तथा अनुवादक और प्रकाशक का श्रम सफल समझूंगा।

अहमदाबाद
२५-४-६३

सुखलाल संघवी

पुरोवचन

ठक्कर वसनजी माधवजी व्याख्यानमाला की ओर से उस व्याख्यानश्रेणी में व्याख्यान देने का निमंत्रण जब मुझे मिला और मैंने उसको स्वीकार किया, तब गुजरात के किसी असाधारण विद्वान् एवं उसकी कृतियों के विषय में कुछ कहने का विचार मेरे मन में आया। परन्तु किस एक विद्वान् एवं उसकी किन कृतियों के बारे में व्याख्यान दिये जायँ यह एक विचारणीय विषय था।

आचार्य हरिभद्र के पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती कितने ही जैन, बौद्ध और वैदिक विशिष्ट विद्वान् दृष्टिसमक्ष उपस्थित हुए। मेरे अध्ययन एवं चिन्तन के परिणामस्वरूप उनमें से प्रत्येक की विशिष्टता तथा असाधारणता मुझे प्रतीत होती थी, और इस समय भी होती है। तार्किक मल्लवादी और उनके व्याख्याकार सिंहगणी क्षमाश्रमण इन दोनों की कृतियाँ दर्शन और तर्क-परम्परा में अनेक अज्ञात मुद्दों पर प्रकाश डालने में समर्थ हैं। श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण महाभाष्यकार के रूप में प्रख्यात हैं। शून्यवादी महायानी शान्तिदेवसूरि अहिंसा-धर्म के मार्मिक पुरस्कर्ता के रूप में विश्वविश्रुत हैं। कवि-वैयाकरण भट्टि भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं और ये विद्वान् तो आचार्य हरिभद्र के पहले तथा वलभी एवं भड़ोंच के क्षेत्र की मर्यादा में विचरण करते थे, यह सुविदित है।

आचार्य हरिभद्र के उत्तरवर्ती अनेक विशिष्ट विद्वानों में से यहां तो दो-चार के नाम का ही निर्देश पर्याप्त होगा : वादी देवसूरि, आचार्य हेमचन्द्र, प्रसिद्ध टीकाकार मलयगिरि और अन्त में न्यायाचार्य यशोविजयजी। इनमें से किसे पसन्द करना इस विचार ने थोड़ी देर के लिये मुझे उलझन में डाला तो सही, पर अन्त में आचार्य हरिभद्र ने मेरे मन पर अधिकार जमाया। मैंने उनके विषय में भाषण तैयार करने का निश्चय किया तब मेरे मन में उनकी जो विशिष्टता रममाण थी उसके खास कारण हैं। उनमें से दो-एक का निर्देश करना उचित होगा।

आचार्य हरिभद्र की विशेषता

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत-संस्कृत भाषा में अनेक विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, तो उस कोटि की विद्वत्ता तो आचार्य हेमचन्द्र तथा न्यायाचार्य यशोविजयजी में भी है। यह सब होने पर भी आचार्य हरिभद्र की विशेषता केवल गुजरात में ही

नहीं, परन्तु, मैं जानता हूं वहाँ तक, सभी परम्पराओं के भारतीय पण्डितों से निराली और विरल है। वह विशेषता है साम्प्रदायिक अनेक विषयों के पाण्डित्य के अलावा अपनी कृतियों के द्वारा प्रकट होने वाली उनकी मानसिक एवं आध्यात्मिक ऊर्ध्वगामी वृत्ति।

उनकी यह वृत्ति किस-किस कृति में किस-किस रूप में आविर्भूत हुई है यह दिखलाने के लिए मैंने उनकी दर्शनविषयक शास्त्रवार्तासमुच्चय और षड्दर्शनसमुच्चय इन दो ही कृतियों को तथा योगविषयक उनकी ज्ञात एवं लभ्य चारों कृतियों–योगविंशिका, योगशतक, योगबिन्दु और योगदृष्टिसमुच्चय–को लेकर अपना वक्तव्य तैयार किया है। यहाँ विशेष रूप से उसके समर्थन में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है; यहाँ तो अधिकारी जिज्ञासु एवं उदार पाठकों के समक्ष इतना ही निवेदन पर्याप्त होगा कि वे तीसरे और चौथे-पाँचवें व्याख्यानों में उन ग्रन्थों के बारे में जो संक्षेप में कहा है उसका स्वस्थ चित्त से वाचन एवं मनन करें।

मैं केवल पाण्डित्य की दृष्टि से आचार्य हरिभद्र पर विचार करने के लिए प्रवृत्त नहीं हुआ। यह तो उनके अनेक विषयों के अनेक ग्रन्थ लेकर दिखलाया जा सकता है। पाण्डित्य, विद्याव्यासंग तथा बहुश्रुतत्व–यह सब उपयोगी है ही, फिर भी जीवन में इनसे भी उच्चतर स्थान निष्पक्ष दृष्टि का, स्व-पर पन्थ या सम्प्रदाय का भेद बिना रखे प्रत्येक में से गुण ग्रहण करने की वृत्ति का तथा इतर सम्प्रदायों के विशिष्ट विद्वानों और साधकों के प्रति भी समझदार चिन्तकों का ध्यान सबहुमान आकर्षित हो वैसी निरूपणशैली का है। आचार्य हरिभद्र में ये विशेषताएँ जितनी मात्रा में और जितनी स्पष्टता से दृष्टिगोचर होती हैं उतनी मात्रा में और उतनी स्पष्टता से दूसरे किसी भारतीय विद्वान् में प्रकट हुई हों तो वह एक शोध का विषय है।

आचार्य हरिभद्र ने समन्वय की तीन कक्षाएँ सिद्ध की हैं। अनेकान्तवाद की व्यापक प्रभा से विकसित नयवाद में जो समन्वय का प्रकार है उसका पल्लवन तो आचार्य हरिभद्र से पहले भी जैन-परम्परा में हुआ है। अतः वह प्रकार तो सहजभाव से उनके ग्रन्थों में आता ही है। परन्तु इतर दो प्रकार, जिनका पल्लवन-पोषण उन्होंने किया है, वह तो केवल उनकी अपनी ही विशेषता है। उनमें से पहला प्रकार यह है कि परस्पर विरोधी दर्शन-परम्पराओं में दर्शन अथवा आचार के बारे में मात्र उस-उस परम्परा को ही मान्य जो रूढ़ परिभाषाएँ प्रचलित हैं-जैसे कि ईश्वरकर्तृत्ववाद, प्रकृतिवाद, अद्वैत, विज्ञान, शून्य जैसी परिभाषाएँ-उनको आचार्य हरिभद्र ने उदात्त और

व्यापक अर्थ प्रदान किया है एवं ये परिभाषाएँ स्वयं उन्हें किस प्रकार अभिप्रेत हैं यह भी दिखलाया है। दूसरा प्रकार उनके इस प्रयत्न में है कि अर्थ एक होने पर भी भिन्न-भिन्न परम्पराओं में उसके लिए जो भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ स्थिर हुई हैं—जैसे कि अविद्या, मोह, दर्शनमोह तथा ब्रह्म, निर्वाण इत्यादि—वे परिभाषाएँ किस प्रकार एक ही अर्थ की सूचक हैं, यह दिखलाना।

यह और इसके समान दूसरी बहुत-कुछ जानने योग्य सामग्री प्रस्तुत व्याख्यानों में से पाठकों को प्राप्त होगी। यदि आजके विकसनशील दृष्टिबिन्दु को नजर के सामने रखकर कोई आचार्य हरिभद्र के उपर्युक्त ग्रन्थों का सांगोपांग अध्ययन करेगा तो उसका अध्ययन विद्या के क्षेत्र में एक बहुमूल्य योगदान समझा जायगा।

आचार्य हरिभद्र के व्यक्तित्व का निर्माण मुख्यतः चार—कथाकार, तत्त्वज्ञ, आचारशोधक एवं योगी के रूपों में हुआ है। उनका सुप्रसिद्ध प्राकृत कथाग्रन्थ समराइच्चकहा है, जिस पर डॉ० हर्मन जेकोबी ने काफ़ी लिखा है और विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। तत्त्वज्ञ अर्थात् तार्किक-दार्शनिक के रूप में उनके संस्कृत में लिखे गये अनेकान्तजयपताका और प्राकृत में लिखे गये धर्मसंग्रहणी जैसे ग्रन्थ मुख्य हैं। आचार-संशोधक के रूप में उनके माने जानेवाले सम्बोधप्रकरण में उन्होंने मार्मिक समालोचना करके यह दिखलाया है कि सच्चा साध्वाचार कौनसा है। योगाभ्यासी के रूप में उन्होंने योगबिन्दु आदि चार ग्रन्थ लिखे हैं, जो योग-परम्परा के साहित्य में अनेक दृष्टि से विरल कहे जा सकते हैं।

आभार निवेदन

बम्बई विश्वविद्यालय की ओर से ठक्कर वसनजी माधवजी व्याख्यानमाला के व्यवस्थापकों ने मुझे निमन्त्रित न किया होता तो उक्त विश्वविद्यालय के हॉल में अनेक अधिकारी श्रोताओं के समक्ष मेरे विचार प्रदर्शित करने का अवसर मुझे प्राप्त न होता, और मेरे अपने जीवन में असम्भाव्य ऐसी धन्यता के अनुभव का अवसर उपलब्ध न होता, तथा ये भाषण इस रूप में ग्रन्थाकार प्रकट करने का प्रसंग भी न आता। इसके लिए मैं इस व्याख्यानमाला के व्यवस्थापकों एवं बम्बई विश्वविद्यालय के संचालकों का आभार मानता हूं।

इन व्याख्यानों को तैयार करते समय वाचन से लेकर लिखने तक और उसके पश्चात् उनके मुद्रण तक मुझको मेरे जिन अनेक सहृदय विद्याप्रिय मित्रों की ओर से जो-जो सहायता मिली है उन सबके नाम का उल्लेख करूं तो एक खासी लम्बी सूचि

तैयार हो जाय। इस उपचार में न पड़कर मेरे हृदय में उनका जो स्थान एवं मान अंकित है उसका संकेत करके मैं सन्तोष मानता हूँ।

परन्तु संकेतमात्र से सन्तोष मानने के बाद भी चारेक नामों का यहाँ निर्देश करना मुझे अनिवार्य लगता है। कवि-प्राध्यापक श्री उमाशंकर जोशी तथा प्राध्यापक डॉ० श्री मनसुखलाल झवेरी इन दोनों का हार्दिक आग्रह इतना अधिक था कि मैं बम्बई विश्वविद्यालय का निमंत्रण स्वीकार करने के लिए उत्सुक हुआ। श्री भो. जे. विद्याभवन के डाइरेक्टर और मेरे सदा के विद्यासखा श्रीयुत रसिकभाई छो. परीख और श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर के डाइरेक्टर पं. श्री दलसुखभाई मालवणिया इन दोनों ने मेरे व्याख्यान सुनकर आवश्यक सूचनाएँ की हैं। मैं इन चारों विद्वानों का विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ।

सरित्कुंज, आश्रम रोड,
अहमदाबाद-९.
ता० ३० जून, १९६१

सुखलाल संघवी

व्याख्यान पहला

आचार्य हरिभद्र के जीवन की रूपरेखा

बम्बई विश्वविद्यालय के संचालकों ने मुझे 'ठक्कुर वसनजी माधवजी व्याख्यान-माला' में व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया। इस आमंत्रण के लिए आभार मानना या इसे भार रूप समझना, ऐसी एक मिश्र अनुभूति मेरे मन में उत्पन्न हुई। मैं चिन्तन-मनन एवं लेखन के भार से यथाशक्य दूर रहना चाहता था, तब उसी काम के उत्तरदायित्व का स्वीकार करने में भार का अनुभव होना स्वाभाविक है, परन्तु विश्वविद्यालय जैसी संस्था के आमंत्रण ने, मित्रों के सहृदय अनुरोध ने और ऐसे विषय के परिशीलन के लम्बे समय से मन में पड़े हुए संस्कारों ने मेरा वह भार एक तरह से हल्का किया और मैं पुनः चिन्तन-मनन-लेखनकी आनन्द-पर्यवसायी प्रवृत्ति में लग गया। ऐसा होते ही आरम्भ में प्रतीत होने वाला वह भार आ-भार अर्थात् ईषद्-भार में पर्यवसित हो गया। यही है मेरा आभार-निवेदन।

प्रस्तुत व्याख्यानमाला में कई ऐसे धुरन्धर विद्वान् व्याख्यान दे गये हैं कि उनके नाम एवं कार्य को देखते हुए मेरा मन उनकी पंक्ति में बैठने के लिए तैयार नहीं होता था, परन्तु जब व्याख्यानमाला के संचालकों ने उस पंक्ति में मुझे रख ही दिया तब मैं एक प्रकार से गौरव का अनुभव करता हूँ, जिसमें वस्तुतः देखा जाय तो लाघववृत्ति ही मुख्य रूप से रही हुई है। आज तक के व्याख्यानों के विषयों की ओर दृष्टि डालने पर मुझे तो ऐसा भी लगता है कि मैं उन पूर्व सूरियों के पथ से कुछ विलग-सा जा रहा हूँ।

बहुश्रुत, इतिहासकोविद और ब्राह्मणवृत्ति के श्री दुर्गाशंकर भाई के 'भारतीय संस्कारोनुं गुजरातमां अवतरण' विषय पर दिये गये उदात्त पांच व्याख्यान सुन रहा था, तभी मनमें विचार आया कि क्या गुजरात ने भारतीय संस्कारों का मात्र अपने में अवतरण ही होने दिया है या उस अवतरण को आत्मसात् करके और उसे पचा कर अपनी विशिष्ट प्रतिभा एवं परम्परा के बल पर उस अवतरण को कोई अपूर्व कहा जा सके ऐसा आकार भी दिया है जो भारतीय संस्कारों में मनोरम एवं अभिनव भी हो ? इस विचार से जब मैं मेरे परिशीलन का प्रत्यवेक्षण अथवा पुनरावलोकन करने

के लिए प्रेरित हुआ तब मेरे मानस-पट पर गुजरात में होने वाली शान्तिदेव, भट्टि, क्षमाश्रमण सिंहगणी और जिनभद्रगणी, हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र और वाचक यशोविजयजी जैसी कई विभूतियों के चित्र अंकित हुए, परन्तु आज तो मैंने उन विभूतियों में से एक को ही पसन्द किया है। वह विभूति अर्थात् याकिनीसूनु आचार्य हरिभद्र।

प्राचीन गुजरात ने [1]जिसे पाला-पोसा और विविध क्षेत्रों में चिन्तन-लेखन की सुविधा दी ऐसी यह विभूति गत डेढ़-सौ वर्ष पहले तो सिर्फ जैन-परम्परा में ही प्रसिद्ध थी। मैं जानता हूँ वहां तक उस काल में जैन-परम्परा के अतिरिक्त कोई दूसरा आचार्य हरिभद्र को जानता हो तो वह 'ललितासहस्रनाम'[2] नामक ग्रन्थ के भाष्यकार भास्करराय ही थे। भास्करराय[3] मूल में कर्णाटकवासी थे वह काशी में आकर रहते थे। उन्होंने गुजरात के सूरत शहर के निवासी प्रकाशानन्द नाम के उपासना-मार्ग के आचार्य के पास पूर्वाभिषेक-दीक्षा ली थी। भास्करराय विक्रम की अठारहवीं शती में हुए हैं। उन्होंने अपने उस 'सौभाग्य-भास्कर' नाम के भाष्यके—

'प्रभावती प्रभारूपा प्रसिद्धा परमेश्वरी।
मूलप्रकृतिरव्यक्ता व्यक्ताव्यक्त स्वरूपिणी।। १३७ ।।'

इस श्लोक की व्याख्या करते समय आचार्य हरिभद्र ने 'धर्मसंग्रहणी' नामक प्राकृत ग्रंथ की एक गाथा प्रमाण के रूप में उद्धृत की है।[4] आश्चर्य की बात तो यह है कि श्वेताम्बर से अतिरिक्त दूसरी जैन-शाखाएँ भी हरिभद्र जैसे प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् की कृतियों के विषय में सर्वथा मौन दिखाई पड़ती हैं, तब एक कर्णाटक-निवासी और काशीवासी प्रकाण्ड पण्डित भास्करराय का ध्यान हरिभद्र के एक ग्रन्थ की ओर जाता है और वह मूल ग्रन्थ भी संस्कृत नहीं, किन्तु प्राकृत। ऐसे प्राकृत ग्रन्थ की ओर एक दूरवर्ती विद्वान् का ध्यान जाय और वह भी एक दार्शनिक मुद्दे के बारे में, तब ऐसा मानना चाहिए कि आचार्य हरिभद्र दूसरी तरह से भले अज्ञात जैसे रहे हों,

---

१. श्री रसिकलाल छो० 'परीख' 'गुजरातनी राजधानीओ पृ० ३९—"उत्तर-पूर्व में आबू और आडावला अथवा अरवल्ली के बाहरी पर्वत, पूर्व में विन्ध्याद्रि की उपत्यकाएं एवं अरण्य तथा दक्षिण में सतपुड़ा की मुख्य पर्वतमाला के उत्तरीय गिरि-अंकुर। इसका स्थानों से निर्देश करूँ तो उत्तर में भिन्नमाल अथवा श्रीमाल, दक्षिण में सोपारा (जहां वस्तुपाल के 'कीर्तन' अर्थात् देवमन्दिर थे), पूर्व में दाहोद या रतलाम, पश्चिम में कच्छभुज-सौराष्ट्र।"

इस पुस्तक के आरम्भ में गुजरात का मानचित्र भी है।

२. प्रकाशक : निर्णयसागर प्रेस, १९३५ ईसवीय।

३. देखो 'ललितासहस्रनाम' की प्रस्तावना।

४. "इति धर्मसंग्रहण्यादौ ग्रन्थे हरिभद्रादिभिर्जैनसूरिभिरुट्टंकितः।"

परन्तु उनकी कृतियों एवं उनके विचारों में बहुश्रुत विद्वानों को आकर्षित करने जितना सामर्थ्य तो है ही।

लगभग डेढ़-सौ वर्ष पहले पाश्चात्य संशोधक विद्वानों का ध्यान पुरातत्त्व, साहित्य आदि ज्ञान-साधनों से समृद्ध पौरस्त्य भण्डारों की ओर अभिमुख हुआ और प्रो. किल्हॉर्न, ब्ह्यु लर, पिटर्सन, जेकोबी जैसे विद्वानों ने जैन भण्डार देखे[५] और उनकी समृद्धि का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया। इसके परिणाम-स्वरूप भारत में तथा भारत के बाहर ज्ञान की एक नई दिशा खुली। इस दिशोद्‌घाटन के फलस्वरूप आचार्य हरिभद्र, जो कि अब तक मात्र एक परम्परा के विद्वान् और उसी में अवगत थे, सर्व विदित हुए। जेकोबी, लॉयमान, विन्तर्नित्स, सुवाली और शुब्रिग आदि अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थ एवं जीवन के विषय में चर्चा की है। जेकोबी, लॉयमान, शुब्रिग और सुवाली आदि विद्वानों ने तो हरिभद्र के भिन्न-भिन्न ग्रंथों का सम्पादन ही नहीं, बल्कि उनमें से किसी का तो अनुवाद या सार भी दिया है।[६] इस प्रकार हरिभद्र जर्मन, अंग्रेजी आदि पाश्चात्य भाषाओं के ज्ञाता विद्वानों के लक्ष्य पर एक विशिष्ट विद्वान् के रूप से उपस्थित हुए। दूसरी ओर पाश्चात्य संशोधन दृष्टि के जो आन्दोलन भारत में उत्पन्न हुए उनकी वजह से भी हरिभद्र अधिक प्रकाश में आये। उन्नीसवीं शती के चतुर्थ चरण में गुजरात के साक्षर-शिरोमणि श्री मणिलाल नभूभाई का ध्यान आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों की ओर आकर्षित हुआ। इस पुरुषार्थी विद्वान् ने हरिभद्र के जो ग्रन्थ हाथ में आये और जो उनकी मर्यादा थी तदनुसार उनमें से खास-खास ग्रन्थों के गुजराती अनुवाद भी प्रस्तुत किये।[७] इस तरह देखते हैं तो नव-युग के प्रभाव से आचार्य हरिभद्र ने किसी एक धर्म-परम्परा के विद्वान् न रहकर साहित्य के अनन्य विद्वान् और उपासक के रूप में विद्वन्मण्डल में स्थान प्राप्त किया।

---

५. प्रो० किल्हॉर्न (१८६९–७०), ब्ह्यु लर (१८७०–७१) पिटर्सन (१८८२ से–) इन सब के हस्तलिखित पोथियों की शोध के उल्लिखित वर्षों की रिपोर्ट देखिये। डॉ० हर्मन जेकोबी ने, जब वह सन् १९१४ में भारत आये थे तब, जैन भण्डारों का निरीक्षण किया था।

६. डॉ० हर्मन जेकोबी ने 'समराइच्चकहा' का सम्पादन किया है तथा उसका अंग्रेजी में सार भी दिया है। प्रो० सुवाली ने 'योगदृष्टिसमुच्चय', 'योगबिन्दु', लोकतत्त्वनिर्णय, एवं 'षड्दर्शनसमुच्चय' का सम्पादन किया है; और 'लोकतत्त्वनिर्णय' का इटालियन में अनुवाद भी किया है।

७. (१) षड्दर्शनसमुच्चय, (२) योगबिन्दु, (३) अनेकान्तवादप्रवेश।–'मणिलाल नभूभाई : साहित्य साधना' पृ० ३३६।

आचार्य हरिभद्र के साहित्य में जिसने जितने परिमाण में अवगाहन किया वह उतने ही परिमाण में उनकी विद्वत्ता और तटस्थता के प्रति आकर्षित हुआ, और ईसा की बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से तो हरिभद्र की ख्याति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई है। उनकी कृतियों का अवलोकन और सम्पादन करने का आकर्षण विद्वानों में बढ़ता गया है।

डॉ. आनन्दशंकर बी. ध्रुवने १६०६ में 'गुजरातनु' संस्कृत साहित्य, ए विषयनु' थोडु'क रेखादर्शन' नाम का एक निबन्ध तीसरी गुजराती साहित्य परिषद् में पढ़ा था और १६४७ में श्री दुर्गाशंकर भाई ने 'भारतीय संस्कारोनु' गुजरातमां अवतरण' इस शीर्षक के नीचे पाँच व्याख्यान दिये थे। इन दोनों बहुश्रुत एवं उदारचेता विद्वानों के निबन्धों में वलभी के भट्टि, भिन्नमाल के ब्रह्मगुप्त और माघ आदि का निर्देश है। जिन भट्टि, ब्रह्मगुप्त और माघ जैसे विद्वानों की आज तक एक-एक कृति ही उपलब्ध एवं विख्यात हैं उनका तो निर्देश हो और उसी प्राचीन गुजरात की सुप्रसिद्ध राजधानी भिन्नमाल एवं उसके आसपास के प्रदेश में रह कर जिन्होंने अनेक कृतियाँ रची हों तथा जो आज भी उपलब्ध हों उनका निर्देश तक उन निबन्धों में न हो, यह देखकर किसी को सहजभाव से प्रश्न हो सकता है कि वैसे विशिष्ट विद्वान् का परिचय कराना कैसे रह गया होगा ? परन्तु मुझे लगता है कि आचार्य हरिभद्र की दर्शन एवं योग-परम्परा विषयक विशिष्ट कृतियां इन दोनों महारथियों के अवलोकन में यदि आई होतीं, तो उनका उनकी ओर सविशेष ध्यान गये बिना न रहता। शायद ऐसा भी सम्भव है कि उनकी दृष्टि में हरिभद्र गुजरात की सीमा में न भी आते हों।

परन्तु गुजरात के बहुश्रुत और सुविद्वान् श्री रसिकलाल छो० परीख ने काव्यानुशासन के दूसरे भाग की अपनी सुविस्तृत और सुसम्बद्ध प्रस्तावना मे थोड़े से शब्दों में भी आचार्य हरिभद्र का जो मूल्यांकन किया है वह खास ध्यान खींचे ऐसा है।[८]

अब तो हरिभद्र के ग्रन्थों को विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में भी स्थान मिला है। खास करके उन्होंने दर्शन एवं योग-विषयक जिन उदात्त ग्रन्थों की रचना की है

---

८. "It (Bhinnamala) was also one of the centres of literary activity of Haribhadrasuri, the author of many important works on Jaina Philosophy and also of a general work on the schools of Indian Philosophy known as Shaddarshanasamuchchaya. He also composed Samaradityakatha, a novel whose hero is Samaraditya."

—काव्यानुशासन भा. २, प्रस्तावना पृ० ६७.

उनकी ओर विद्वान् उत्तरोत्तर अधिकाधिक आकर्षित होते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में मुझे विचार आया कि हरिभद्र के दर्शन एवं योग-विषयक ग्रन्थों में ऐसी कौन-कौनसी विशेषताएँ हैं जिनकी ओर अभ्यासियों का लक्ष्य विशेष जाना चाहिए ? इस विचार से मैंने इस व्याख्यानमाला में आचार्य हरिभद्र के विषय में विचार करना पसन्द किया है और वह भी उनकी कतिपय विशिष्ट कृतियों को लेकर। वे कृतियाँ भी ऐसी होनी चाहिए जो समग्र भारतीय दर्शन एवं योग-परम्परा के साथ संकलित हों। जिन कृतियों को लेकर मैं इन व्याख्यानों में चर्चा करना चाहता हूं उनकी असाधारणता क्या है, यह तो आगे की चर्चा से स्पष्ट हो जायगा।

मैंने पाँचों व्याख्यान नीचे के क्रम में देने का सोचा है—

(१) पहले में आचार्य हरिभद्र के जीवन की रूपरेखा।

(२) दूसरे में दर्शन एवं योग के सम्भावित उद्भवस्थान, उनका प्रसार, गुजरात के साथ उनका सम्बन्ध और उनके विकास में आचार्य हरिभद्र का स्थान।

(३) तीसरे में दार्शनिक परम्परा में आचार्य हरिभद्र के नवीन प्रदान पर विचार।

(४-५) चौथे और पाँचवे में योग-परम्परा में आचार्य हरिभद्र के अर्पण का सविस्तार निरूपण।

आचार्य हरिभद्र के जीवन एवं कार्य का सूचक तथा उनका वर्णन करने वाला साहित्य लगभग उनके समय से ही लिखा जाता रहा है और उसमें उत्तरोत्तर अभिवृद्धि भी होती रही है। प्राकृत, संस्कृत, गुजराती, हिन्दी, जर्मन और अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनेक विद्वान् और लेखकों ने उनके जीवन एवं कार्य की चर्चा विस्तार से की है। वैसे साहित्य की एक सूचि अन्त में एक परिशिष्ट के रूप में देनी योग्य होगी।[६] यहाँ तो इस साहित्य के आधार पर प्रस्तुत प्रसंग के साथ खास आवश्यक प्रतीत होनेवाली बातों के विषय में ही चर्चा की जायगी। विशेष जिज्ञासु परिशिष्ट में उल्लिखित ग्रन्थ आदि को देखकर अधिक आकलन कर सकते हैं।

जन्म-स्थान

आचार्य हरिभद्र के जीवन के विषय में जानकारी देने वाले ग्रन्थों में सबसे अधिक प्राचीन समझा जानेवाला ग्रन्थ भद्रेश्वर की, अबतक अमुद्रित, 'कहावली' नाम की प्राकृत कृति है। इसका रचना-समय निश्चित नहीं है, परन्तु इतिहासज्ञ विचारक

---

६. देखो पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट १

इसे विक्रम की बारहवीं शती के आसपास रखते हैं। इसमें आचार्य हरिभद्र के जन्म-स्थान का नाम 'पिवंगुई बंभपुणी'[१०] ऐसा पढ़ा जाता है, जब कि इतर ग्रन्थों में उनका जन्मस्थान चित्तौड़-चित्रकूट[११] कहा गया है। ये दोनों निर्देश भिन्न होने पर भी वस्तुतः इसमें खास विरोध जैसा ज्ञात नहीं होता है। 'पिवंगुई' ऐसा मूल नाम शुद्ध रूप में उल्लिखित हो, या फिर कुछ विकृत रूप में प्राप्त हुआ हो यह कहना कठिन है; परन्तु, उसके साथ जो 'बंभपुणी' का उल्लेख है वह 'ब्रह्मपुरी' का ही विकृत रूप है। इस तरह यह ब्रह्मपुरी कोई छोटा देहात हो, कस्बा हो या किसी नगर-नगरी का एक भाग हो, तो भी वह चित्तौड़ के आसपास ही होगा। इसीलिए उत्तरकालीन ग्रन्थों में अधिक प्रख्यात चित्तौड़ का निर्देश तो रह गया, किन्तु ब्रह्मपुरी गौण बन गई या फिर ख्याल में ही न रही।

चित्तौड़गढ़ की प्रतिष्ठा से पहले उससे उत्तर में लगभग ५-६ मील की दूरी पर आई हुई शिबि जनपद की राजधानी 'मध्यमिका' नगरी विख्यात थी। यह अब भी 'नगरी' के नाम से पहचानी जाती है। यह नगरी बहुत प्राचीन है तथा सत्ता, विद्या एवं धर्मों का केन्द्र रही है।[१२] इसीलिए इस पर यदा-कदा आक्रमण होते रहे हैं। इसका *सर्व-प्रथम उल्लेख महाभाष्यकार पतंजलि* (ईसा-पूर्व दूसरी शतीने) अपने भाष्य में किया है।[१३] मध्यमिका वैदिक परम्परा का केन्द्र तो थी ही, परन्तु भागवत परम्परा का तो वह विशिष्ट केन्द्र थी तथा बौद्ध एवं जैन परम्पराओं का[१४] भी वह एक विशिष्ट क्षेत्र जैसी थी। उत्तरोत्तर आक्रमणों के कारण जब यह स्थान

---

१०. "पिवंगुईए बंभपुणीए" — पाटन, संघवी के पाड़े के जैन भण्डार की वि० सं० १४९७ में लिखित ताड़पत्रीय पोथी, खण्ड २, पत्र ३००।

११. अधोलिखित प्राचीन ग्रन्थों में जन्मस्थान के रूप में चित्तौड़—चित्रकूटका उल्लेख मिलता है :—

(क) हरिभद्रसूरिकृत 'उपदेशपद' की श्री मुनिचन्द्रसूरिकृत टीका। (वि०सं० ११७४)

(ख) "*गणधरसार्धशतक*' की सुमतिगणिकृत वृत्ति। (वि० सं० १२९५)

(ग) प्रभाचन्द्रसूरिकृत 'प्रभावकचरित्र' नवम शृंग। (वि० सं० १३३४)

(घ) राजशेखरसूरिकृत 'प्रबन्धकोष' अपर नाम 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध'। (वि० सं० १४०५)

१२. देखो 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' वर्ष ६२, अंक २-३ में प्रकाशित डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का लेख 'राजस्थान में भागवत धर्म का प्राचीन केन्द्र' पृ० ११६-२१।

१३. "अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्।" ३. २. १११

१४. देखो 'कल्पसूत्र-स्थविरावली'; उसमें मज्झिमिया शाखाका उल्लेख है। वह मध्यमिका नगरी के आधार पर उस नाम से प्रसिद्ध हुई।

सुरक्षित न रहा, तब चित्रांगद नामक एक मौर्य ने मध्यमिका में से चित्तौड़ में राजधानी बदली।[१५] पहाड़ पर होने के कारण वह अधिक सुरक्षित स्थान था। मध्यमिका के प्राचीन अवशेष अब भी मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यमिका में से चित्तौड़ पर राजधानी का परिवर्तन होते ही चित्तौड़ का सब तरह से विकास हुआ होगा और विद्या एवं धर्म की जो परम्पराएँ मध्यमिका में थीं उन्होंने भी चित्तौड़ के विकास का लाभ लिया होगा। यह चाहे जो हो, परन्तु ऐसा तो लगता है कि हरिभद्र का जन्म-स्थान मूल चित्तौड़ न हो, तो भी चित्तौड़ अथवा मध्यमिका में से किसी एक के साथ उसका अधिक सम्बन्ध होना चाहिए। 'ब्रह्मपुरी' संकेत यथार्थ हो तो ऐसा भी कहा जा सकता है कि वह चित्तौड़ अथवा मध्यमिका जैसी नगरी का ब्राह्मणों की प्रधानता वाला कोई उपनगर या मुहल्ला भी हो। इस प्रकार जन्म-स्थान का विचार करने पर हरिभद्र प्राचीन गुजरात के प्रदेश से बहुत दूर के नहीं हैं।

माता-पिता

हरिभद्र के माता-पिता का नाम केवल 'कहावली' में ही उपलब्ध होता है। उसमें माता का नाम गंगा और पिता का नाम शंकर भट्ट कहा गया है।[१६] भट्ट शब्द ही सूचित करता है कि वह जाति से ब्राह्मण थे। 'गणधर-सार्धशतक' की सुमतिगणिकृत वृत्ति (रचना सं. १२९५) में तो हरिभद्र का ब्राह्मण के रूप में स्पष्ट निर्देश ही है,[१७] जब कि प्रभावक-चरित्र में उन्हें राजा का पुरोहित कहा है।[१८] मतलब कि वह जन्म से ब्राह्मण थे। यदि ब्रह्मपुरी के नाम की उपर्युक्त कल्पना सच हो, तो हरिभद्र के ब्राह्मण होने की कल्पना को उससे और भी पुष्टि मिलती है। प्राचीनकाल से

---

१५. चित्रकूट की स्थापना चित्रांगद ने की थी ऐसी कथा 'कुमारपालचरित्रसंग्रह' में पृ० ५ और पृ० ४७–९ पर आती है। यह चित्रांगद मौर्य वंश का था ऐसा नीचे के आधारों से निश्चित किया जा सकता है :—

श्री हीरानंद शास्त्री : 'A Guide to Elephanta'—This would show that Mewar and the surrounding tracts were held by a Maurya dynasty during the eighth century after Christ." पृ० ७

'ख्यातों' में भी चित्रांगद का मौर्य के रूप में निर्देश मिलता है।

१६. "संकरो नाम भटो, तस्स गंगा नाम भट्टिणी। तीसे हरिभद्दो नाम पंडिओ पुत्तो।" ३००

१७. एवं सो पंडित्तगव्वमुव्वहमाणो हरिभद्दो नाम माहणो।"—धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना में उद्धृत, पृ० ५ अ

१८. शृङ्ग ९, हरिभद्रसूरीचरित्र, श्लोक ८: "अतितरलमतिः पुरोहितोऽभून्नृपविदितो हरिभद्रनामवित्तः।"

ऐसी प्रथा चली आती है कि किसी भी एक जाति के लोग एक ही मुहल्ले-टोले में रहते हैं, इसी कारण वैशाली के माहणकुण्ड, खत्तियकुण्ड, वाणिजगाम जैसे उपनगर या टोले प्रसिद्ध हैं; और जहां, 'ब्राह्मण-ग्राम' का उल्लेख आता है वहां विद्वान् उसके बारे में ऐसा खुलासा करते आये हैं कि उस गांव में ब्राह्मणों का प्राधान्य होता है तथा दूसरे वर्णों के लोग गौण रूप से रहते हैं। आज भी उदयपुर, जोधपुर, जयपुर जैसे शहरों में ब्राह्मणों के मुहल्ले 'ब्रह्मपुरी' के नाम से पहचाने जाते हैं।[१९]

समय

हरिभद्र के समय का प्रश्न विवादास्पद था। प्राचीन उल्लेखों के अनुसार ऐसा माना जाता था कि हरिभद्र वीर संवत् १०५५ अर्थात् वि. सं. ५८५ में स्वर्गवासी हुए, परन्तु इस बारे में अन्तिम निर्णय आचार्य श्री जिनविजयजी ने अपने तद्विषयक निबन्ध में कर डाला है।[२०] यह निर्णय प्रत्येक ऐतिहासिक ने मान्य रखा है। तदनुसार हरिभद्र का जीवन-काल प्रायः वि. सं. ७५७ से ८२७ तक का आँका जाता है। इस निर्णय पर आने के अनेक प्रमाणों में से एक खास उल्लेखनीय प्रमाण उद्योतन-सूरि उपनाम दाक्षिण्य-चिह्नकृत कुवलयमाला की प्रशस्ति-गाथाएँ है। दाक्षिण्यचिह्न ने अपनी कुवलयमाला की समाप्ति का समय एक दिवस न्यून शक-संवत् ७०० अर्थात् शक-संवत् ७०० की चैत्र कृष्णा चतुर्दशी लिखा है और उन्होंने अपने प्रमाण-न्यायशास्त्र के विद्या-गुरु के रूप में हरिभद्र का निर्देश किया है।[२१] इस समय के साथ पूरी तरह से मेल खानेवाले अनेक ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों के उल्लेख

---

१९. वास्तुग्रन्थों में वर्णन के आधार पर नगर में मुहल्ले टोलों के निर्माण का वर्णन आया है; जैसे कि—

प्राग्विप्रास्त्वथ दक्षिणे नृपतयः शूद्राः कुबेराश्रिता.।
कर्तव्याः पुरमध्यतोऽपि वणिजो वैश्या विचित्रैर्गृहैः॥
—मण्डनसूत्रधारकृत वास्तुराजवल्लभ; ४. १८

इसके अतिरिक्त देखो 'वास्तुविद्या' अध्याय २, २६, ३२।

२०. देखो 'जैन साहित्य संशोधक' वर्ष १, अंक १। यह निबन्ध सन् १९१९ में अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् में आचार्य श्री जिनविजयजी ने पढ़ा था।

२१. जो इच्छइ भवविरहं भवविरहं कोण वंदए सुयणो।
समय-सय-सत्थ-गुरुणो समरमियंका कहा जस्स॥
—कुवलयमाला पृ० ४, पं० २

सो सिद्धन्तेण गुरु जुत्ती-सत्थेहि जस्स हरिभद्दो।
बहु-सत्थ-गंथ-वित्थर-पत्थारिय-पयड-सव्वत्थो॥
—कुवलयमाला पृ० २८२, पं० १८

हरिभद्र के विविध ग्रन्थों में मिलते हैं,[२२] और इससे हरिभद्र का उपरिनिर्दिष्ट सत्ता-समय निर्विवाद सिद्ध होता है।

प्रो. के. वी. अभ्यंकर ने विंशतिर्विंशिका नामक हरिभद्र के प्राकृत ग्रन्थ की प्रस्तावना में उक्त निर्णय के विरुद्ध शंका उपस्थित की है, परन्तु यदि उन्होंने प्रो. जेकोबी का स्पष्टीकरण ध्यान से देखा होता, तो वैसी शंका उठाने का उनके लिए कोई कारण न रहता। उनकी शंका यह है कि शक-संवत् ७०० में एक दिन कम यानी शक-संवत् ७०० के अन्तिम का अगला दिन। यह दिन चैत्र कृष्ण चतुर्दशी नहीं हो सकता, परन्तु फागुन कृष्ण चतुर्दशी हो सकता है, क्योंकि फागुन कृष्ण अमावस्या के दिन वर्ष पूरा होता है। यह शंका उचित तो लगती है, लेकिन इसका स्पष्टीकरण प्रो. जेकोबी ने, जब उन्होंने मुनि श्री जिनविजयजी का निर्णय मान्य रखा तब, अपने ढंग से बहुत पहले ही किया है।[२३] ऐसा होने पर भी हमें इस बारे में विशेष ऊहापोह करना योग्य जँचा। इससे हमने प्राचीन एवं अर्वाचीन ज्योतिष के निष्णात प्राध्यापक श्री हरिहर भट्ट के समक्ष यह प्रश्न विशेष स्पष्टता के लिए रखा। उन्होंने प्रो. जेकोबी के खुलासे पर ध्यान से विचार किया और लभ्य सभी साधनों से जाँच पड़ताल की, तो उन्हें ऐसा लगा कि जैसा प्रो. जेकोबी मानते हैं उस तरह उस समय दो चैत्र नहीं, किन्तु दो वैशाख थे, फिर भी चैत्र कृष्ण चतुर्दशी का उल्लेख तो सत्य ही है।[२४]

---

२२. देखो 'जैन साहित्य संशोधक' वर्ष १, अंक १, परिशिष्ट, पृ० ५३ से।

२३. 'समराइच्चकहा' की प्रस्तावना पृ० १–२।

२४. इस विषय में उन्होंने ब्यौरे से हमको जो पत्र लिखा था वह नीचे उद्धृत किया जाता है—

हरिहर प्रा० भट्ट

२२, सरस्वती सोसाइटी,
सरखेज रोड़, अहमदाबाद-७.
तारीख ४ – ८ – ५८

पूज्य श्री पं० सुखलालजी,

हरिभद्रसूरि के काल-निर्णय के विषय में उद्द्योतनसूरि द्वारा कुवलयमाला में उल्लिखित एक वाक्य को गणित की दृष्टि से जाँचने के लिए आपने मुझसे कहा था। उसके बारे में मेरा मन्तव्य है कि—

१. उद्द्योतन के लिखने के अनुसार कुवलयमाला शक ७०० के अन्तिम से पहिले के दिन चैत्र कृष्णा चतुर्दशी को पूर्ण हुई थी। जेकोबी अपने 'Haribhadra's Age, Life and Works' शीर्षक वाले लेख के फुटनोट ५ में कहते हैं कि शक ७०१ में अधिक चैत्र था; परन्तु वस्तुतः अधिक चैत्र नहीं, किन्तु अधिक वैशाख था। पिलै की Chronology में तथा केशो लक्ष्मण छत्रे की अधिक मासिक की तालिका में अधिक वैशाख दिया है। सूर्य-

श्री हरिहर भाई के ऊपर के स्पष्टीकरण से और जेकोबी एवं ऐतिहासिक विद्वान् पंन्यास श्री कल्याणविजयजी आदि के निर्विवाद स्वीकार से हरिभद्र के समय के बारे में मुनि श्री जिनविजयजी का निर्णय अन्तिम है ऐसा मानकर ही हमें हरिभद्र के जीवन एवं कार्य के विषय में विचारना चाहिए।

विद्याभ्यास

हरिभद्र ने बचपन से विद्याभ्यास कहां और किस के पास किया इसका कोई निर्देश मिलता ही नहीं, परन्तु ऐसा लगता है कि जन्म से ब्राह्मण थे और ब्राह्मण परम्परा में यज्ञोपवीत के समय से ही विद्याभ्यास का प्रारम्भ एक मुख्य कर्तव्य समझा जाता है। उन्होंने वह प्रारम्भ अपने कुटुम्ब में ही किया हो या आसपास के किसी योग्य स्थान में, परन्तु इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने विद्याभ्यास का आरम्भ प्राचीन ब्राह्मण परम्परा के अनुसार संस्कृत भाषा से किया होगा। उन्होंने किसी-न-किसी ब्राह्मण विद्या-गुरु अथवा विद्या-गुरुओं के पास व्याकरण, साहित्य, दर्शन और धर्मशास्त्र आदि संस्कृत-प्रधान विद्याओं का गहरा और पक्का परिशीलन किया होगा। सामान्यतः जैसा बनता आया है वैसा हरिभद्र के जीवन में भी बना। वह यह कि विविध विद्याओं एवं यौवन-सुलभ सामर्थ्य मद ने उन्हें अभिमानपूर्ण प्रतीत हो ऐसा एक संकल्प करने के लिये प्रेरित किया। उनका ऐसा संकल्प था कि जिसका कहा न समझूं मैं उसका शिष्य हो जाऊँगा। इस अभिमान-सूचक संकल्प ने उन्हें किसी दूसरी ही दिशा की ओर धकेल दिया।

सिद्धान्त एवं आर्य-सिद्धान्त के अनुसार मैंने गणित किया, तो उस रीति से भी अधिक वैशाख आता है। ब्रह्मसिद्धान्त का प्रचार उस काल में नहीं था। ब्रह्मसिद्धान्त के अनुसार भी अधिक वैशाख आता है। जेकोबी किस प्रकार अधिक चैत्र गिनते हैं, यह समझ में नहीं आता।

२. जेकोबी इस फुटनोट में किल्हॉर्न का एक वाक्य उद्धृत करते हैं। जेकोबी लिखते है कि 'Kielhorn has shown from dates in inscriptions that in connection with Saka years almost always *amanta* months are used.' यहाँ किल्हॉर्न द्वारा प्रयुक्त almost शब्द सूचित करता है कि उसके देखने में कई ऐसे inscriptions भी आये होंगे, जिनमें पौर्णिमान्त महीने हो।

३. एक बात जिस पर जेकोबी का ध्यान नहीं गया वह यह है : मेरे पास चालू वर्ष का काशी के पं० बापूदेव शास्त्री का पंचांग है। वह विक्रम संवत् २०१५ और शालिवाहन शक १८८० का है। उसमें अधिक श्रावण है। उसमें मास और पक्ष का क्रम इस प्रकार है—पहले चैत्र शुक्ल, उसके पश्चात् वैशाख कृष्ण, फिर वैशाख शुक्ल आदि। अन्त में फाल्गुन शुक्ल और चैत्र कृष्ण। इस प्रकार मास पौर्णिमान्त हैं और शालिवाहन शक का वर्ष चैत्र शुक्ल १ से प्रारम्भ होता है। इससे वर्ष के अन्त से पहिले का दिन चैत्र कृष्ण १४ आता है।

ऐसा हुआ कि एकबार वे चित्तौड़ के मार्ग पर से गुज़र रहे थे। उस समय उपाश्रय में से एक साध्वी द्वारा बोली जानेवाली एक गाथा उनके सुनने में आई [२५]। गाथा प्राकृत भाषा में और वह भी संक्षिप्त एवं संकेतपूर्ण थी; अतः उसका मर्म उनकी समझ में न आया। परन्तु हरिभद्र मूलतः थे जिज्ञासा की मूर्ति; इससे वे साध्वी के पास पहुँचे और उस गाथा का अर्थ जानने की अपनी इच्छा प्रदर्शित की। उस साध्वी ने अपने गुरु जिनदत्तसूरि के साथ उनका परिचय कराया। उन्होंने हरिभद्र को संतोष हो इस तरह बात करके अन्त में कहा कि यदि प्राकृत शास्त्र तथा जैन-परम्परा का पूरा-पूरा और प्रामाणिक अभ्यास करना हो तो उसके लिए जैन-दीक्षा आवश्यक है। हरिभद्र तो उत्कट जिज्ञासु, स्वभाव से एकदम सरल और अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ थे। अतः उन्होंने उस सूरि के पास जैन-दीक्षा अंगीकार की और साथ ही अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए अपने आपको उस साध्वी के धर्मपुत्र के रूप में उद्घोषित किया [२६]। उस साध्वी का नाम 'याकिनी' था। कोई भी पुरुष पुरुष के पास ही दीक्षा ले सकता है; अतः यद्यपि उन्होंने जैन-दीक्षा तो जिनदत्तसूरि के पास ली किन्तु महत्तरा याकिनी साध्वी का धर्मऋण चुकाने के लिए

यों तो पण्डित लोग शालिवाहन शक का वर्ष समग्र भारतवर्ष में चैत्र शुक्ला १ से गिनते हैं, फिर भी उत्तर में पौर्णिमान्त और दक्षिण में अमान्त मासगणना चलती है। किल्हॉर्न के almost शब्द से निर्दिष्ट अपवाद उत्तर भारत के होने चाहिएं, और हरिभद्रसूरि का case भी उत्तर का है। शालिवाहन शक के मास आज भी उत्तर भारत के पंडितों के पंचांगों में पौर्णिमान्त गिने जाते हैं, और फिर भी उनमें शक संवत् का प्रारम्भ चैत्र शुक्ला १ से होता है। सम्भव है कि सामान्य जनता में भिन्न पद्धति प्रचलित हो और तदनुसार inscriptions में भिन्न रूप से लिखा जाता हो और उद्द्योतनसूरि ने पण्डितों की पद्धति के अनुसार कुवलय-माला को पूर्ण करने की तिथि लिखी हो; संक्षेप में, कुवलयमाला में लिखी हुई तिथि में कोई दोष मुझे नहीं दिखता। इस प्रकार शा. शक ७०० चैत्र कृष्णा चतुर्दशी के दिन ई. स. ७७९ के मार्च की २१वीं तारीख आती है।

२५. चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दु चक्की केसी अ चक्की अ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ४२१

२६. यद्यपि स्वयं हरिभद्र अथवा अन्य कोई याकिनी नाम्नी किसी महत्तरा के व्यक्तित्व के विषय में कुछ विशेष निर्देश नहीं करते, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस महत्तराका व्यक्तित्व, चारित्र्य, स्वभावमाधुर्य आदि अनेक विशेषताओं के कारण भव्य होना चाहिए।

उन्होंने अपने आपको "धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनुः" [२७] कहने में गौरव का अनुभव किया।

यहां से हरिभद्र का विद्या-विषयक दूसरा युग शुरू होता है। वह प्राप्य सभी संस्कृत-प्रधान विद्याओं में तो निष्णात थे ही, परन्तु प्राकृत आदि इतर भाषा-प्रधान विद्याओं से सर्वथा अपरिचित थे। जैन-दीक्षा अंगीकार करके उन्होंने प्राकृत भाषा तथा उसमें लिखे गये और सुलभ ऐसे जैन-परम्परा के अनेकविध शास्त्रों का पारदर्शी अवगाहन कर लिया। इस तरह उन्होंने अपने जीवन में ब्राह्मण एवं श्रमण दोनों परम्पराओं की विद्याएं एकरस कीं। यदि वे संस्कृत भाषा और उसमें निबद्ध विद्याओं के पारगामी विद्वान् न होते, तो उन्हें जैन-परम्परा के प्राकृत-प्रधान विविध विषयों का थोड़े समय में ऐसा पारदर्शी ज्ञान शायद ही होता। इसी पारिगामिता के परिणाम-स्वरूप ही उन्होंने जैन-परम्परा के महत्त्व के गिने जा सकें ऐसे कई आगम-ग्रन्थों के ऊपर संस्कृत टीकाएं लिखी हैं [२८] तथा प्राकृत भाषा में विविध प्रकार का विपुल साहित्य भी रचा है [२९]।

हरिभद्र ने अपने माता-पिता या वंश आदि का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है। जब उन्होंने स्वयं अपने आपको याकिनी महत्तरा का पुत्र और वह भी धर्मपुत्र कहा, तब उनके इस छोटे-से विशेषण में से एक विशिष्ट अर्थ फलित होता है ऐसा मैं समझता हूँ। मेरी दृष्टि से वह अर्थ यह है कि अज्ञात समय से जाति एवं धर्म के मिथ्या अभिनिवेश के कारण ब्राह्मण और श्रमण परम्परा के बीच जो एक प्रकार की खाई बिछी हुई थी वह याकिनी महत्तरा के परिचय के द्वारा हरिभद्र के जीवन में पट गई। ऐसा लगता है कि उनके जीवन पर इस घटना का इतना अधिक प्रभाव

---

२७. आवश्यकटीकाकी प्रशस्ति : "समाप्ता चेयं शिष्यहिता नामावश्यकटीका। कृतिः सिताम्बराचार्य – जिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य **धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य**"

उपदेश की प्रशस्ति:

"जाइणिमयहरिआए रइया एए उ धम्मपुत्तेण।

हरिभद्दायरिएण भवविरहं इच्छमाणेणं॥"

पंचसूत्रविवरण की प्रशस्ति: "विवृतं च **याकिनीमहत्तरासूनु**-श्रीहरिभद्राचार्यैः।"

२८. दशवैकालिक, आवश्यक, नन्दी, अनुयोगद्वार, पन्नवणा, ओघनिर्युक्ति, चैत्यवन्दन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, जीवाभिगम तथा पिण्डनिर्युक्ति।

—धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना, पृ. १३ से १७

२९ देखो परिशिष्ट २।

पड़ा कि वह अपने जन्मदाता माता-पिता को याद नहीं करते, परन्तु उस महत्तरा का धर्ममाता के रूप में उल्लेख करने में गौरव का अनुभव करते है। सामान्यतः जैनसाधु अपने विद्या या दीक्षा गुरु आदि का स्मरण करता है, परन्तु शायद ही ऐसा कोई साधु या आचार्य हुआ होगा जिसने किसी साध्वी का स्मरण किया हो। हरिभद्र इस छोटे-से विशेषण से याकिनी द्वारा अपने जीवन में हुए महान् परिवर्तन का सूचन करते हैं और अपने आपको धर्मपुत्र कहकर मानों उस साध्वी के प्रति जन्मदात्री माता की अपेक्षा भी अधिक बहुमान प्रदर्शित करते हैं। उनके मनमें ऐसी बात जम-सी गई होगी कि यदि मुझे इस साध्वी का परिचय न हुआ होता, तो मैं परम्परागत मिथ्याभिमान के संस्कार से विद्या के एक ही चौके में बंधा रह जाता और विद्या का जो नया क्षेत्र खुला है वह न खुलता। ऐसे किसी अनन्य भाव से उन्होंने उस छोटे-से विशेषण का अपनी कई रचनाओं में निर्देश किया है। हरिभद्रसूरि ने स्वयं ही "धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनुः" ऐसे विशेषण का उल्लेख न किया होता, तो उनके जीवन में घटित असाधारण क्रान्ति की सूचना उत्तरकाल में बचने न पाती और मुख-परम्परा से यह घटना चली आती, तो भी शायद वह दन्तकथा में ही परिगणित हो जाती। अतएव मैं ऐसा समझता हूँ कि यह विशेषण हरिभद्र के जीवन का सूचक होने से उनके उत्तरकालीन समग्र जीवन-प्रवाह पर एक विशेष प्रकार का प्रकाश डालनेवाला है।

भव - विरह

हरिभद्र के उपनाम के रूप में दूसरा एक विशेषण प्रसिद्ध है और वह है "भव-विरह" ३०। उन्होंने स्वयं ही अपनी कई रचनाओं में "भव-विरह के इच्छुक" के नाम से अपना निर्देश किया है। इस "भव-विरह" के पीछे उनका कौनसा संकेत रहा है, इसका उन्होंने कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, परन्तु उनके जीवन का आलेखन करनेवाले अनेक ग्रंथों में इसका खुलासा देखा जाता है। इनमें सर्वाधिक प्राचीन

---

३०. पं. श्रीकल्याणविजयजी ने 'धर्मसंग्रहणी' की प्रस्तावना में (पृ. १६ से २१) जिन-जिन ग्रन्थों की प्रशस्तियों में 'विरह' शब्द आता है वे सब प्रशस्तियां उद्धृत की हैं। उन ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं— अष्टक, धर्मबिन्दु, ललितविस्तरा, पंचवस्तुटीका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, योगदृष्टिसमुच्चय, षोडशक, अनेकान्तजयपताका, योगबिन्दु, संसारदावानलस्तुति, धर्मसंग्रहणी, उपदेशपद, पंचाशक और सम्बोधप्रकरण।

इसके अतिरिक्त 'कहावली' के कर्त्ता भद्रेश्वर ने तो उनके 'भवविरहसूरि' नाम का निर्देश प्रबन्ध में अनेक बार किया है।

उल्लेख 'कहावली' का होने से उसके आधार पर उसका अर्थ जानना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

"भव-विरह" शब्द के पीछे मुख्यतया जिन तीन घटनाओं का संकेत है वे इस प्रकार हैं — (१) धर्म-स्वीकार का प्रसंग [३१], (२) शिष्यों के वियोग का प्रसंग [३२], और (३) याचकों को दिए जानेवाले आशीर्वाद का और उनके द्वारा किए जानेवाले जय जयकार का प्रसंग [३३]। इन तीनों प्रसंगों को अब हम संक्षेप में देखें :—

(१) धर्म-स्वीकार का प्रसंग :—

याकिनी महत्तरा जब हरिभद्र को अपने गुरु जिनदत्तसूरि के पास ले गई, तब उन्होंने हरिभद्र को प्राकृत गाथा का अर्थ कहा। इसके पश्चात् उन सूरि ने हरिभद्र को याकिनी के धर्मपुत्र बनने की सूचना की। हरिभद्र ने सूरि से पूछा कि धर्म क्या है और उसका फल कौनसा है? इस पर उन्होंने कहा कि "सकाम और निष्काम इस प्रकार धर्म दो तरह का है। इनमें से निष्काम-धर्म का फल तो भव अर्थात् संसार का विरह – मोक्ष है, जबकि सकाम-धर्म का फल स्वर्ग आदि है।" तब हरिभद्र ने कहा कि "मैं तो भव-विरह अर्थात् मोक्ष ही पसन्द करता हूं।' फलतः उन्होंने प्रव्रज्या लेने का निश्चय किया और जिनदत्तसूरि के पास जैन-प्रव्रज्या अंगीकार की। मोक्ष के उद्देश्य से ही वे प्रव्रज्या की ओर अभिमुख हुए थे, अतः उनका मुद्रालेख "भव-विरह" बन गया।

(२) शिष्यों के वियोग का प्रसंग :—

चित्तौड़ में ही बौद्ध-परम्परा का भी विशिष्ट प्रभाव था। उस परम्परा का अभ्यास करने के लिए गये हुए उनके जिनभद्र एवं वीरभद्र नामक दो शिष्यों की, धर्मद्वेष के परिणामस्वरूप, मृत्यु हुई। इससे हरिभद्र उद्विग्न हुए, परन्तु शिष्यों की भांति ग्रंथ भी धर्म की एक महान् विरासत हैं ऐसा समझकर वे ग्रन्थ-रचना में उद्युक्त हुए। दीक्षाकालीन "भव-विरह" मुद्रालेख तो उनके मन में रमाण था ही और शिष्यों की मृत्यु का आघात भी मन पर पड़ा हुआ था। इस आघात को शांत करने का बल भी उन्हें अपने मुद्रालेख से ही मिल गया। उन्होंने सोचा कि संसार तो अस्थिर ही है, उसमें इष्ट-वियोग कोई असाधारण घटना नहीं है। अतः वैसे

---

३१. 'कहावली' पत्र ३०० : "हरिभद्दो भणइ भयवं पिउ मे भवविरहो।

३२. 'प्रभावकचरित्र' शृंग ९, श्लोक २०६।

३३. 'कहावली' पत्र ३०१ अ : "चिरं जीवउ भवविरहसूरि त्ति।"

वियोग" के लिए अनुताप करने की अपेक्षा भव-विरह अर्थात् मोक्ष-धर्म को लक्ष्य में रखकर ग्रन्थ-रचना में एकाग्र हो जाना ही परम कर्तव्य है। इस प्रकार उन्होंने अपने "भव-बिरह" के मुद्रालेख में से आश्वासन प्राप्त किया और शिष्यों के बिरहजन्य शोक को शांत किया। इस घटना का स्मरण उन्होंने "भव-विरह" शब्द में सुरक्षित रक्खा है।

(३) याचकों को आशीर्वाद और उनके जय जयकार का प्रसंग :—

तीसरा प्रसंग ऐसा है कि जब कोई भक्त हरिभद्रसूरि के दर्शनार्थ आता तो वह उन्हें आशीर्वाद के रूप में आजकल जैसे "धर्मलाभ" कहा जाता है वैसे "भव-विरह" का आशीर्वाद देते। इस पर आशीर्वाद लेनेवाला भक्त 'भव-विरहसूरि बहुत जीयें' ऐसा कहता। इस विषय की एक खास घटना का उल्लेख 'कहावली' में आता है, जो जानने जैसा है। लल्लिग नाम का एक व्यापारी गृहस्थ हरिभद्र के ऊपर अनन्य आदरभाव रखता था। वह पहले तो दरिद्र था, परन्तु धीरे धीरे सम्पन्न होने पर वह अपनी सम्पत्ति का उदारता से उपयोग करने लगा। वह प्रतिदिन मुनियों के भिक्षा के समय शंख बजाता और जो कोई भूखा आता उसे खाना खिलाता। उसके मनमें कुछ ऐसा बस गया होगा कि त्यागी गुरु को भिक्षा देना तो कर्तव्य है ही, परंतु गांव की हद में से कोई भूखा न जाय यह देखने का भी गृहस्थ का धर्म है। यह आतिथ्य-परम्परा आज के कड़े समय में भी थोड़ी बहुत बची तो है ही। धर्मशाला, सराय आदि स्थानों में सदाव्रत की जो परम्परा बची हुई है वह पूर्वकालीन आतिथ्य-धर्म का प्रतीक है। लल्लिग इस धर्म में विशेष रस लेता होगा। आगन्तुक लोग भोजनशाला में भोजन करने के बाद हरिभद्रसूरि को वन्दन करने के लिए भी जाते थे। वह उन्हें, 'भव-विरह प्राप्त करो, तुम्हारा मोक्ष हो' ऐसा आशीर्वाद देते थे। आगन्तुक भी उन्हें 'भव-विरहसूरि बहुत जीयें' ऐसा कहकर विदाई लेते थे। इस प्रसंग से भी ऐसा मालूम होता है कि उनका उपनाम 'भव-विरह' विशेष प्रसिद्धि में आया होगा।

यहां हरिभद्रसूरि के भक्त के रूप में लल्लिग का जो उल्लेख है उसका एक खास अर्थ भी है, और वह यह कि लल्लिग ने हरिभद्रसूरि को ग्रन्थ-रचना में बहुत बड़ी सहायता की थी। हरिभद्रसूरि ने रातदिन अपनी समग्र शक्ति विविध ग्रन्थों की रचना में लगा दी। वे रात के समय भी लिखते थे, परन्तु उस काल में कागज जैसे अद्यतन साधन तो थे ही नहीं। पहले तख्ती या दीवार के ऊपर लिखा जाता था; उसमें संशोधन, परिवर्तन या परिवर्धन करके अंतिम रूप देने के उपरांत ही ताड़पत्र आदि के ऊपर लेखक उसे उतारता। हरिभद्र, जैनसाधु ठहरे; अतः रात में लिखना हो तो साधु-

धर्म के कारण दीए आदि की सुविधा उन्हें सुलभ ही नहीं थी, परन्तु लल्लिग ने प्राप्य उल्लेख के अनुसार, एक देदीप्यमान हीरा उनके पास उपाश्रम में रक्खा था[३४]। वस्तुतः वह हीरा होगा या दूसरी कोई वस्तु, परन्तु वह प्रकाश दे और दीए का काम दे ऐसी कोई निर्दोष वस्तु होनी चाहिए। वे उस प्रकाश का उपयोग करके दीवार या तख्ती के ऊपर प्राथमिक मसौदा लिख लेते। इस कार्य में लल्लिग ने जो सुविधा कर दी और हरिभद्र ने उसका असाधारण उपयोग किया वह उत्तरकालीन हेमचन्द्रसूरि और सिद्धराज एवं कुमारपाल के सम्बन्ध का संस्मरण कराता है[३५]।

हरिभद्रसूरि इस प्रकार छोटे-बड़े ग्रंथों की रचना करते और अन्त में 'भव-विरह' पद जोड़ देते। कहावलीकार आदि ने यदि लल्लिग के इस वृत्तान्त का उल्लेख न किया होता, तो हरिभद्रसूरि की ग्रन्थ-रचना का तप कैसा था इसका पता हमें न चलता और लल्लिग साधुओं की भांति दूसरे याचकों को संतुष्ट कर आतिथ्य-धर्म की प्राचीन परम्परा का किस तरह पालन एवं पोषण करता था इसकी जानकारी भी हमें उपलब्ध न होती।

पोरवाल जाति की स्थापना

हरिभद्र ने मेवाड़ में पोरवाल वंश की स्थापना करके उन्हें जैन-परम्परा में दाखिल किया ऐसी अनुश्रुति ज्ञातियों का इतिहास लिखनेवालों ने नोट की है[३६]।

---

३४. कहावली : ''समप्पियं च सूरिणो लल्लिगेण पुव्वागयरयणाणं मज्झाओ जच्चरयणं, तदुज्जोएण य रयणीए विढप्पेइ सूरि भित्तिपट्टयाइसु गंथे।''

३५. देखो 'प्रभावकचरित्र' गत २२वाँ हेमचन्द्रसूरिप्रबन्ध; काव्यानुशासन भाग २, प्रस्तावना पृ. २७३ से।

३६. पं. श्री कल्याणविजयजी : 'धर्मसंग्रहणी' प्रस्तावना पृ. ७।

व्याख्यान दूसरा

दर्शन एवं योग के सम्भवित उद्भवस्थान – उनका प्रसार – गुजरात के साथ उनका सम्बन्ध – उनके विकास में हरिभद्रसूरि का स्थान

इस व्याख्यान में समाविष्ट होनेवाले चार मुद्दों पर हम अनुक्रम से विचार करेंगे। इनमें से पहला मुद्दा है – दर्शन एवं योग के सम्भवित उद्भवस्थान। उद्भव-स्थान का प्रश्न हमें अज्ञात अतीतकाल तक ले जाता है। इसका कोई निर्विवाद और अन्तिम उत्तर देने का कार्य चाहे जैसे समर्थ अभ्यासी के लिए भी सरल नहीं है। इसके अलावा, इसका उत्तर सोचने और पाने में सांप्रदायिक वृत्ति भी कुछ बाधक होती है। सामान्यतः मानव-मानस परम्परा से ऐसा निर्मित होता आया है कि वह उसे विरासत में मिली हुई सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावना को दूसरे की वैसी भावना की अपेक्षा विशेष समुन्नत और पवित्र मानने की ओर अभिमुख होता है; फलतः वह उत्तराधिकार में प्राप्त अपनी वैसी सांस्कृतिक एवं धार्मिक भावना को हो सके उतनी प्राचीनतम और एकमात्र मौलिक मानने का आग्रह रखता है। भारतीय धर्म-परम्पराओं के दृष्टांत से यह बात स्पष्ट करनी हो तो हम यहां तीन वादों का उल्लेख कर सकते हैं – (१) मीमांसक का वेद-विषयक अपौरुषेयत्ववाद, (२) न्याय-वैशेषिक जैसे दर्शनों का ईश्वरप्रणीतत्ववाद और (३) आजीवक एवं जैन जैसी परम्पराओं का सर्वज्ञप्रणीतत्ववाद। ये वाद असल में तो ऐसी भावनाओं में से उत्पन्न एवं विकसित हुए हैं कि उस-उस परम्परा के शास्त्र और उनमें आई हुई दार्शनिक एवं योग परम्परा खुद उनकी अपनी ही है और उसमें जो कुछ है वह या तो अनादि और सनातन है, या ईश्वरकथित होने से उनमें मानव बुद्धि का स्वतन्त्र प्रदान नहीं है, या फिर सर्वज्ञप्रणीत होने से वह एक सम्पूर्ण व्यक्ति के पुरुषार्थ का ही परिणाम है। अपनी-अपनी धर्म-परम्परा के प्रति मानव-मन असाधारण आदरभाव रक्खे और उसकी ओर सहज पवित्रता की श्रद्धा रक्खे, तब तक तो वे वाद सत्य-शोधन में खास बाधक नहीं होते; परन्तु जब जिज्ञासु संशोधक व्यक्ति वस्तुस्थिति जानना चाहता है और प्रयत्न करता है, तब वे वाद बहुत बड़ा विघ्न खड़ा करते हैं। साधारण अनुयायी

वर्ग अपनी अपनी धर्म-परम्परा को सर्वथा भिन्न माने और दूसरी परम्परा अथवा दूसरे मानवयूथ के पास से अपनी परम्परा में कुछ भी नयी बात आने का इन्कार करे, तब सत्य की दृष्टि अवरुद्ध होती है। अतएव सम्भवित उद्भवस्थानों के प्रश्न की विचारणा में हमें ऐसे वादों को एक ओर ही रखना पड़ेगा। यद्यपि इन वादों के आसपास सूक्ष्म तार्किक अनुमान और दूसरी रसप्रद बौद्धिक सामग्री भारतीय दार्शनिक साहित्य में इतनी बड़ी मात्रा में सञ्चित हुई है कि उसे देखने तथा उस पर विचार करने पर प्रत्येक पक्षकार के बुद्धि-वैभव के प्रति और उनकी अपने अपने सम्प्रदाय को अनन्य भाव से भजने की वृत्ति के प्रति मान पैदा हुए बिना नहीं रहता; फिर भी सत्य की शोध में निकला हुआ मनुष्य आग्रह एवं अभिनिवेश का परित्याग किए बिना सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

उपर्युक्त अपौरुषेयत्व आदि वाद प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर के विचार में अवरोधक होते हैं, यह सही है फिर भी प्राचीन समय में भी एक तत्वचिन्तक और स्वतन्त्र परम्परा के पुरस्कर्ता ऐसे हुए हैं जिनका झुकाव उक्त वादों मे अलग पड़ता दिखाई देता है, वह है तथागत बुद्ध। तथागत ने अपने दार्शनिक एवं योग-विषयक सिद्धान्तों के बारे में अपने शिष्यों के समक्ष अपने ही श्रीमुख से जो कहा था उसका उल्लेख पिटक में मिलता है। उन्होंने कहा था कि मैं जो कुछ कहता हूं वह न तो अपौरुषेय है, न ईश्वरप्रणीत है और न सर्वज्ञप्रणीत ही। मैं तो सिर्फ एक धर्मज्ञ हूं। जो धर्म मैं तुम्हें समझाता हूं उसकी जानकारी तक ही मेरी मर्यादा है। उस धर्म-विषयक अनुभव से अधिक जानने का या कहने का मेरा दावा भी नहीं है। इसीसे तुम मेरे कथन को तर्क एवं स्वानुभव से जांचो और कसो। मैंने कहा है इसीलिए उसे मत मानों[1]। बुद्ध का यह कथन हमें अपने विषय में स्वतन्त्र रूप से विचार करने की

---

१. मैं जो कुछ कहता हूँ वह परम्परा से सुना करते हो इसलिए उसे सत्य मत मानना; अथवा हमारी पूर्वपरम्परा ऐसी है इसलिए सत्य मत मानना; 'यह ऐसा ही होगा' ऐसा भी जल्दी से मत मान लेना; अथवा यह बात हमारे धर्मग्रन्थों में है इसलिए भी उसे सत्य मत मानना; यह बात तुम्हारी श्रद्धा के अनुकूल है, इसलिए उस पर विश्वास मत रखना; अथवा तुम्हारे धर्मगुरु ने कहा है, इसलिये उस पर विश्वास मत रखना।

—डॉ. राधाकृष्णन कृत Gautama, the Buddha का गुजराती अनुवाद पृ. १३

एथ तुम्हे कालामा मा अनुस्सवेन, मा परम्परया, मा इतिकिराय, मा पिटकसंपादनेन, मा तक्कहेतु, मा नयहेतु, मा आकार परिवितक्केन, मा दिट्ठिनिज्झानक्खंतिया, मा भव्यरूपताय, मा समणो नो गुरू ति। यदा तुम्हे कालामा अत्तना व जानेय्याथ—इमे धम्मा अकुसला, इमे धम्मा सावज्जा, इमे धम्मा विञ्ञुगरहिता, इमे धम्मा समत्ता समादिन्ना अहिताय, दुक्खाय, संवत्तंती ति– अथ तुम्हे कालामा पजहेय्याथ।

—अंगुत्तरनिकाय भाग १, ३.६५.३, पृ. १८९ (पाली टेक्स्ट सोसायटी)

दिशा में प्रोत्साहक हो सके ऐसा है। यह सच है कि सम्प्रदाय की स्थापना होने पर सुगत के शिष्यों ने भी उन्हें धीरे-धीरे सर्वज्ञ बना दिया [२] और उनके विचार आचार मानों स्वतः पूर्ण हों ऐसी श्रद्धा परम्पराओं में निर्मित की, तथापि स्वयं बुद्ध की वृत्ति तो सर्वदा ही सब प्रकार के पूर्वाग्रहों से विमुक्त होकर सोचने-समझने की रही है।

बुद्ध पूर्ण श्रद्धालु और फिर भी तर्कप्रधान थे; अतः जो जो वस्तु बुद्धि एवं तर्क की कसौटी पर पूरी न उतरे उसे वे अलग हटा देते थे। उनकी इस वृत्ति का आज अनेक गुना विकास हुआ है। जब से विज्ञान ने अपनी कलाएं विकसित कीं और पंख पसारे तथा उसके साथ ही इतिहास एवं तुलना की दृष्टि खिली, तब से संशोधन के अनेक नये नये प्रकार और मार्ग अस्तित्व में आये हैं। पुरातत्वीय अवशेष, मानव-वंश-विद्या, मानवजाति-शास्त्र, मानव-समाज एवं उसकी संस्कृति का शास्त्र तथा भाषाविज्ञान जैसे क्षेत्रों में इतना अधिक कार्य हुआ है और अब भी हो रहा है कि उनके द्वारा उपलब्ध होनेवाली प्रत्यक्ष जानकारी पर से जो जो अनुमान किए गए हैं उनमें से अधिकांश अनुमान विद्वानों में सर्वसम्मत से हो गये हैं। अतः वैसे अनुमानों की अवगणना करके ऊपर कहे गये प्राचीन वादों की कल्पना-सृष्टि पर सर्वथा निर्भर रहना इस युग में अब शक्य ही नहीं है। इस दृष्टि से जब हम वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करनेवाले इतिहास का अवलम्बन लेकर विचार करते हैं, तब दर्शनों की तथा योग की परम्परा के सम्भवित उद्भवस्थानों के बारे में कुछ अस्पष्ट और फिर भी सच्चा प्रकाश हमें प्राप्त होता है।

यह भारतवर्ष लम्बे समय से आर्यदेश तथा हिन्द के नाम से विख्यात है, परन्तु 'आर्य' एवं 'हिन्द' का मानाई और व्यापक पद प्राप्त करने में उसे अनेक सहस्र वर्षों की रासायनिक प्रक्रिया में से गुज़रना पड़ा है। आर्यवर्ग – जिसका वेद के साथ निकट का सम्बन्ध था वह वर्ग असल में इस देश का ही था अथवा बाहर से इस देश में आकर बसा था इसके विषय में मतभेद है, परन्तु बहुमत एवं बहुत से ठोस तथ्य बाहर से आकर उसके यहां बसने का समर्थन करते है [३], फिर भी इस जगह तो इस प्रश्न को एक ओर रखकर ही विचारना ठीक होगा। वैदिक आर्य असल यहां

---

२. तत्सम्भव्यपि सर्वज्ञः सामान्येन प्रसाधितः।
तल्लक्षणाविनाभावात् सुगतो व्यवतिष्ठते ॥

—तत्वसंग्रह, श्लो. ३३३६ तथा उसके आगे

३. देखो 'Vedic Age' Book III: Aryans in India, Ch. x- The Aryan Problem.

के ही हों अथवा बाहर से आये हों, चाहे जो मानें, परन्तु एक बात सुनिश्चित है कि प्रारम्भ में वह आर्यवर्ग बहुत छोटा था और पश्चिमोत्तर प्रदेश के अमुक भाग में ही बसा हुआ था। इस वर्ग के अतिरिक्त ऐसी दूसरी अनेक जातियां इस देश में थीं और बाहर से आकर यहां बस गई थीं, जो इतिहासक्रम में आर्यवर्ग से पहले की पूर्ववर्ती थीं। ऐसी जातियों के भिन्न भिन्न नाम मे उल्लेख वैदिक वाङ्मय में मिलते हैं [४]। वैदिक आर्य उन जातियों को आर्येतर ही मानते रहे हैं [५]। ऐसी प्राचीनतर और प्राचीनतम जातियों में नेग्रीटो, ऑस्ट्रिक, द्राविड़ और मंगोल मुख्य हैं। इनमें से ऑस्ट्रिक निषाद के नाम से, द्राविड़ दासदस्यु के नाम से और मंगोल किरात के नाम से व्यवहृत हुए हैं [६]। आर्यवर्ग छोटा था, जबकि ये पूर्ववर्ती जातियां उसकी अपेक्षा अधिक बड़ी थीं और विशाल प्रदेश पर फैली हुई थीं। पूर्ववर्ती प्रजाओं का आपस-आपस में रक्त-मिश्रण एवं सांस्कृतिक आदान-प्रदान होता होगा इसमें शंका नहीं है, फिर भी वैदिक आर्यों के आगमन अथवा स्थिर-निवास एवं प्रसरण के साथ वह मिश्रण और आदान-प्रदान और भी अधिक तीव्र हुआ [७]। इस मिश्रण के अनेक पहलू है। भाषा, रक्त-सम्बन्ध, संस्कृति और धर्म इन सभी क्षेत्रों में मिश्रण के परिणामस्वरूप एक अद्भुत रसायन निर्मित हुआ है जो आज की भारतीय प्रजा में दृष्टिगोचर होता है। वैदिक आर्यों की कवि-भाषा या शिष्ट-भाषा संस्कृत थी; इसका दूसरा रूप तत्कालीन प्राकृत था। परन्तु इस भाषा ने पूर्ववर्ती जातियों की सभी भाषाओं का स्थान लिया। यह स्थान लेने मे उसने पूर्ववर्ती भिन्न-भिन्न भाषाओं के अनेक तत्व अपना लिये और अपने कलेवर को इतना अधिक शक्तिशाली बनाया कि अन्त में दूसरी भाषाएं उस संस्कृत, तद्भव या तत्सम प्राकृत के प्रभाव में और प्रवाह में

---

४. 'Vedic Age': The Tribes in Rigveda, p. 245.

५. दास, दस्यु, पणि आदिको आर्येतर माना जाता है। देखो वही, पृ. २४८–५०।

६. वही · Race movements and Prehistoric Culture, p. 142 ff; Dr Sunitikumar Chatterji : Presidential Address, All-India Oriental Conference, 1953, p. 11-17.

७. डा. सुनीतकुमार चटर्जी का उपर्युक्त व्याख्यान पृ. २० :

"The racial fusion that started in India with great vigour some 3500 years ago, after the advent of the Aryans, was wider in scope than anywhere else in the world, with the white, brown, black and yellow peoples, Aryas, Dravidas, Nishadas and Kiratas, all being included in it. This kind of miscegenation, together with the admission into India of various other types of culture and religious out-look, has perhaps made the average Indian more cosmopolitan in his physical and mental composition than a representative of any other nation."

एकरस हो गईं या समा गईं। यह है आर्यवर्ग के द्वारा साधित भाषाओं के संस्कृतीकरण की आद्य सिद्धि [८]।

परन्तु भाषाओं के परस्पर संक्रमण के साथ ही रक्त का सम्मिश्रण भी चलता था। इसके साथ ही सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन भी परस्पर के मिश्रण के आधार पर निर्मित होता गया [९] और जो प्राचीन आर्येतर जातियाँ थीं वे अपने अनेक सामाजिक रीति-रिवाजों और सांस्कृतिक अंगों के साथ आर्य वर्ग के दायरे में दाखिल होती गईं। फलतः 'आर्य' शब्द, जो प्रारम्भ में एक छोटे-से वर्ग तक मर्यादित था, अब एक विशाल समाज का निर्देशक बन गया और उसमें वर्ण अर्थात् रंग, जन्म, कर्म एवं गुण आदि के आधार पर चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था की गई। इस चातुर्वर्ण्य का फैलावा देशव्यापी बन गया। यह हुई आर्यीकरण की प्रक्रिया। इसमें 'आर्य' पद वर्गवाची न रहकर उदात्त गुण-कर्म सूचक बन गया। [१०]

आर्यीकरण की प्रक्रिया के प्रारम्भ के साथ ही धर्म एवं तत्त्वज्ञान की परस्पर संक्रान्ति भी शुरू हो ही गई थी। आर्येतर जातियों के धार्मिक और तात्त्विक संस्कार आर्यवर्ग के वैसे संस्कारों से बहुत भिन्न थे। आर्य मुख्यतया प्रकृति की विविध शक्ति की या उसके विविध पहलुओं की आकाशीय अथवा स्वर्गीय देव के रूप में, अथवा तो एक गूढ़ शक्ति के विविध प्राकृतिक आविर्भावों के रूप में स्तुति करते थे। उनका स्तवन जब यजन या यज्ञविधि में परिणत हुआ, तब उस विधि में अग्निकल्प मुख्य था। अग्नि में मंत्रपूर्वक आहुतियाँ देने का और अधिष्ठापक देवों को प्रसन्न करने के धर्म का मुख्य रूप से आर्यवर्ग ने विकास किया, [११] जब कि आर्येतर जातियों में से द्राविड़ जैसी जातियों की धार्मिक वृत्ति सर्वथा भिन्न प्रकार की थी। वे स्वर्गीय

---

८. उपर्युक्त व्याख्यान पृष्ठ १७ : "The language they brought became an instrument of the greatest power in the setting up of Indian civilisation. It was the Vedic language, the Old Indo-Aryan speech, which later on as Sanskrit was transformed into one of the greatest languages of civilisation in which the composite culture of ancient India found its most natural vehicle."

९. वही, पृ. ६।

१०. वही, पृ. ११ : "The name of one dominant race, Arya, very soon lost its narrow ethnic significance or application and became rather a word to denote nobility and aristocracy of character and temperament. With the general acceptance of the Aryan language in North India, and with the admission of its prestige in the South as well, the fact that this language was profoundly modiffied within

नहीं, किन्तु भूमिवासी प्राणी, पशु, मनुष्य एवं पशु-मनुष्य की मिश्र आकृतिवाले सत्त्वों की अवतार के रूप में पूजा करते थे, और वह पूजा मिट्टी, पत्थर, लकड़ी, धातु आदि के प्रतीक तथा चित्र एवं इतर प्रतिकृतियों के द्वारा की जाती थी। यह मूर्ति-पूजा का ही एक खास स्वरूप था।[१२] आर्यवर्ग में ऐसी मूर्तिपूजा ज्ञात नहीं होती। यद्यपि उसमें यजन कार्य में दम्पति सम्मिलित होते थे, परन्तु यजन की विधि विशिष्ट पुरुष अर्थात् पुरोहित के अतिरिक्त कोई नहीं करा सकता था। दान-दक्षिणा द्वारा यज्ञ करानेवाला दूसरा वर्ग भले ही हो, परन्तु मंत्रोच्चार एवं इतर विधि-विधान तो विशिष्ट पुरुष – पुरोहित का ही अधिकार था; जब कि आर्येतर जातियों के धर्म में प्रचलित पूजा-विधि में स्त्री-पुरुष, छोटा-बड़ा या चाहे जैसा ऊंचा-नीचा अधिकार रखनेवाला व्यक्ति समान भाव से भाग ले सकता था। आर्यों के यज्ञों में इतर द्रव्यों के साथ मांस की आहुति भी दी जाती थी, जब कि आर्येतर धर्मों की पूजा में, आजकल जैसे मूर्ति के सामने नैवेद्य धरा जाता है वैसे, पत्र, पुष्प, फल, जल एवं दीपक आदि का उपयोग होता था। आर्य यज्ञविधि अत्यन्त जटिल, तो आर्येतर पूजा बिलकुल सरल और सादी। इस प्रकार आर्य एवं आर्येतर जातियों के प्राचीन धर्मों में बहुत बड़ा अन्तर था।[१३]

इसी प्रकार इनके तत्त्वज्ञान में भी खास अन्तर देखा जाता है। आर्यवर्ग में तत्त्वज्ञान 'ब्रह्म' शब्द के विविध अर्थों के विकास के साथ संकलित है, जब कि आर्येतर जातियों का तत्त्वज्ञान 'सम' पद के विविध पहलुओं के साथ आयोजित देखा जाता है।[१४]

India by taking shape in a non-Aryan environment reconciled the Dravidians and others to come under the tutelage of Sanskrit as the sacred language of Hinduism and as the general vehicle of Indian culture."

आर्यीकरण के विस्तृत वर्णन के लिए देखो Dr. D. R. Bhandarkar : "Some Aspects of Ancient Indian Culture" : Aryanisation, p. 24.

११. "Vedic Age" Ch. XVIII : Religion and Philosophy, P. 460, डॉ० सुनीतिकुमार चेटर्जी का उपर्युक्त व्याख्यान, पृ० ५२।

१२. डॉ० सुनीतिकुमार चेटर्जी का उपर्युक्त व्याख्यान, पृ० ५२; "विष्णुधर्मोत्तर" ४३, ३१–५।

१३. डॉ० सुनीतिकुमार चेटर्जी का उपर्युक्त व्याख्यान, पृ० ५३।

१४. देखो–गुजराती साहित्य परिषद् के २० वें अधिवेशन के तत्त्वज्ञान विभाग के अध्यक्षपद से दिया गया मेरा व्याख्यान, "ब्रह्म अने सम।"

— बुद्धिप्रकाश, वर्ष १०६, अंक ११, पृ० ३८६।

कवित्व की असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न और नये-नये आचार-विचारों को आत्मसात् करनेवाले ब्राह्मण पुरोहित वर्ग ने 'ब्रह्म' पद का अन्त में ऐसा अर्थ विकसित और फलित किया कि ब्रह्म अर्थात् विश्वगत विविध भेद-सृष्टियों का प्रभवस्थान।[१५] दूसरी ओर 'सम' के उपासक एवं असाधारण साधक व्यावहारिक जीवन के सभी अंगों में समत्व या समभाव फैलाने की साधना कर रहे थे।[१६] इसके कारण सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन में समत्व का अर्थ अत्यन्त सूक्ष्म भूमिका तक विकसित हुआ। समत्व की साधना भी भेद-सृष्टि की भूमिका के ऊपर चलती थी। परन्तु वह अद्वैत में परिणत न होकर आत्मौपम्य में परिणत हुई।[१७] यह साधना ही योग परम्परा की असली बुनियाद है।

भारत भूमि में दर्शन एवं योग इन दोनों का सर्वथा अलग-अलग विकास दृष्टिगोचर नहीं होता। दार्शनिक तत्त्वचिन्तन हो वहां योग के किसी न किसी अंग

---

१५. "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि "बृहदारण्यकोपनिषद्" १, ४, १०; "ब्रह्मसूत्र" १, १, १-४, शांकरभाष्यसहित; "भगवद्गीता" १३, १२ आदि, १४, ४।

१६. "भगवद्गीता" के अधोलिखित श्लोक देखो :—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ २. ४८ ॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबद्धयते ॥ ४. २२ ॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ ५. १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ ५. १९ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६. २९ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ६. ३२ ॥

"उत्तराध्ययनसूत्र" की निम्नांकित गाथा देखो :—

समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण उ मुणी होइ तवेण होइ तावसो ॥ २५. ३२ ॥

१७. देखो "अध्यात्म विचारणा" पृ० १२०–२१।

देखो "आचारांगसूत्र" का नीचे का पाठ :—

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं। २, ३, ४.

लोगंसि जाण अहियाय दुक्खं समयं लोगस्स जाणित्ता एत्थ सत्थोवरए। ३, १, १,

से आवयं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं पन्नाणेहिं परिजाणइ लोगं। ३, १, २,

आवंती केयावंती लोगंसि समणा य माहणा य पुढो विवायं वयंति – "से दिट्ठं च

का न्यूनाधिक सम्बन्ध रहता ही था; और योग की साधना हो वहां किसी न किसी प्रकार के तत्त्वचिन्तन का भी आधार होता ही था। ब्रह्मतत्त्व का चिन्तन और समत्व की साधना इन दोनों के अति प्राचीन अल्पाधिक सम्बन्ध के परिणाम स्वरूप धीरे-धीरे ये दोनों ऐसे एकरस हो गये कि ब्रह्मवादी अपने को समवादी और समवादी अपने को ब्रह्मवादी कहने लगा;[१८] ब्राह्मण समन के रूप में और समन ब्राह्मण के रूप में पहचाना जाने लगा।[१९] दर्शन एवं योग की इस सुदीर्घ विकास प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जो मूलभूत सिद्धान्त स्थिर हुए और जो किसी भी भारतीय परम्परा में एक अथवा दूसरे रूप में विद्यमान हैं और जिनके कारण भारत की संस्कृति इतर देशों की संस्कृति से कुछ अलग-सी पड़ती है, वे सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१. स्वतन्त्र आत्मतत्त्व का अस्तित्व।

२. पुनर्जन्म और उसके कारण के रूप में कर्मवाद का सिद्धान्त।

णे सुयं च णे मयं च णे विन्नाय च णे .... सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा .... हंतव्वा.... एत्थ पि जाणह नत्थेत्थ दोसो" – अणारियवयणमेयं। तत्थ जे ते आरिया ते एवं वयासी – "से दुद्दिट्ठं च भे, दुस्सुयं च भे ...." अणारियवयणमेयं॥ वय पुण एवं आइक्खामो .... "सव्वे पाणा न हतव्वा ...." आरियवयणमेय॥ पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामो – "हं भो वावादुया! कि भे साय दुक्खं उयाहु असाय?" समियावडिवन्ने या वि एव बूया – "सव्वेसि पाणाणं .... असायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति" – त्ति बेमि। ४, २, ३–४.

देखो "सूत्रकृतांग" की निम्न गाथाए :—

उरालं जगओ जोगं विवज्जासं पलेंति य।
सव्वे अक्कतदुक्खा य अओ सव्वे अहिंतिया॥ १, १, ४, ९॥
एय खु णाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चेव एयावंतं वियाणिया॥ १, १, ४, १०॥
विरए गामधम्मेहि जे केई जगई जगा।
तेसिं अत्तुवमायाए थाम कुव्व परिव्वए॥ १, ११, ३३॥

देखो "दशवैकालिक" को नीचे की गाथा :—

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं॥ ६, ११॥

१८. निर्दोषं हि समं ब्रह्म। — भगवद्गीता, ५, १९

देखो "स्वयम्भूस्तोत्र" में आये हुए अधोलिखित पद :—

बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः। १, ४
स ब्रह्मनिष्ठः सममित्रशत्रुः। २, ५
अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्। २१. ४

१९. से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बम्भवं पन्नाणेहिं परिजाणई लोगं।

—आचारांगसूत्र ३, १, २

३. कर्म की वजह से जीवन के एक नियत रूप से रचे जाने की और एक नियत मार्ग से प्रवाहित होने की मान्यता, और फिर भी पौरुष अथवा बुद्धिप्रयत्न के द्वारा स्वतन्त्र विकास की शक्यता।

ये सिद्धान्त तत्त्वज्ञानस्पर्शी हैं। योगस्पर्शी सिद्धान्तों में प्रथम स्थान 'जीओ और जीने दो' की आत्मौपम्यमूलक अहिंसा का है। इस अहिंसा की दृष्टि और पुष्टि की वृत्ति में से संयम एवं तप का जो आत्मनिग्रही मार्ग विकसित हुआ वह इसके अनन्तर आता है। अपनी दृष्टि और मान्यता के जितना ही दूसरे की दृष्टि और मान्यता का सम्मान करना—ऐसी समवृत्ति में से उत्पन्न अनेकान्त अथवा सर्वसमन्वय-वाद योगविकास का सर्वोपरि परिणाम है।

उपर्युक्त दार्शनिक एवं योगपरम्परा के मूल सिद्धान्तों का विकास पूर्णतया भारत के अधिवासी अमुक वर्ग ने ही किया है अथवा बाहर से आकर भारत में बसे हुए किसी वर्ग का भी उसमें कमोबेश हिस्सा है इत्यादि बातें निश्चित करना कभी शक्य ही नहीं है; फिर भी उपलब्ध सामग्री के आधार पर विद्वान् ऐसा तो मानने लगे हैं कि आर्यों के पहले जो ऑस्ट्रिक एवं द्राविड़ जातियां थीं उनका इस विकास में बहुत बड़ा हिस्सा है।[२०] मोहन-जो-डेरो और हडप्पा आदि नगर नष्ट हुए, परन्तु इससे कुछ उनकी संस्कृति और वहां बसनेवाली जातियां नष्ट नहीं हुई हैं। लोथल आदि की अभी-अभी की खुदाई ने यह तो बता ही दिया है कि वह जाति और संस्कृति देश के अनेक भागों में फैली हुई थी। मोहन-जो-डेरो आदि स्थानों से प्राप्त मुहर आदि के ऊपर जो आकृतियां अंकित हैं उनमें से योग-मुद्रावाली नग्न आकृति तथा दूसरी नन्दी आदि की आकृतियों की ओर विद्वद्वर्ग का खास ध्यान जाता है और बहुत से विद्वान् ऐसा मानने के लिए प्रेरित होते हैं कि वे आकृतियां असल में किसी रुद्र, महादेव अथवा वैसे किसी योगी की ही सूचक हैं।[२१] दूसरी ओर भारत के भिन्न-भिन्न भागों में प्रवर्तमान अनेकविध धर्मभावनाओं के साथ उस महादेव या शिवकी उपासना प्राचीन काल से किसी-न-किसी रूप में जुड़ी हुई अथवा रूपान्तरित देखी जाती है। द्रविड़भाषी जो द्राविड़ हैं उनका मूल धर्म ऐसी किसी रुद्रपूजा के साथ ही संबन्धित होगा—ऐसा मानने के भी कई कारण हैं।[२२] भारत के पूर्व, उत्तर एवं पश्चिम भाग में

---

२०. डॉ० सुनीतिकुमार चेटर्जी का उपर्युक्त व्याख्यान पृ० ५५–६।

२१. वही।

२२. वही; 'गुजरातनो सांस्कृतिक इतिहास' खण्ड १, भाग १–२ पृ० २२०; डॉ० डी० आर० भाण्डारकरकृत 'Some Aspects of Indian Culture' p. 39 ff.; Marshall : Mohinjo-Daro and Indus Civilization, Vol. I, p. 53–4.

श्रमण-मार्ग की जिन विविध शाखाओं का फैलावा हुआ उनके मूल में भी इस रुद्र की योग-साधना के किसी न किसी अंग का समावेश और विकास देखा जाता है यह सब देखने पर इस समय सामान्य रूप से इतना कहा जा सकता है कि योग-परम्परा के समत्वमूलक और समत्वपोषक अंगों का उद्भवस्थान सिन्धु-संस्कृति के प्रदेशों में कहीं न कहीं होना चाहिये, परन्तु उद्भवस्थान विषयक यह अस्फुट चर्चा हमें बहुत दूर नहीं ले जा सकती, फिर भी इसके प्रसार का प्रश्न उतना अटपटा और उलझन से भरा हुआ नहीं है।

२. प्रसार

दर्शन और योग की परम्परा यों तो भारत के कोने-कोने में फैली हुई देखी जाती है, परन्तु इसके प्रसार के इतिहास युग के मुख्य केन्द्र दो या तीन हैं: (१) पूर्व-भारत में मगध, उतर बिहार, और काशी-कोसल का केन्द्र; (२) पश्चिमोत्तर प्रदेश में तक्षशिला, शलातुर और कुरु-पश्चाल का मध्य प्रदेश। वैदिक वाङ्मय, महाभारत रामायण, दर्शन-सूत्र और उनके कतिपय भाष्य तथा कई प्राचीन पुराण इत्यादि ब्राह्मण-प्रधान संस्कृतमय साहित्य के उद्भवस्थान अधिकांशतः पश्चिमोत्तर भारत, कुरु-पाश्चाल, काशी-कोसल और बिहार में आये हैं, तो प्राकृत भाषा में निबद्ध श्रमण-प्रधान आगम-पिटकों के उद्भवस्थान भी उत्तर-बिहार, मगध, काशी-कोसल और मथुरा आदि के आस पास ही देखे जाते हैं। सौराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान आदि पश्चिम के भाग तथा दक्षिण एवं दूर-दक्षिण के प्रदेश में ऐसा कोई स्थान दृष्टिगोचर नहीं होता, जहां कि इतिहास युगीन संस्कृतप्रधान या प्राकृत-प्रधान साहित्य के प्राचीन स्तर की निर्मिति का निर्देश मिलता हो। इस पर से इतना सार निकाला जा सकता है कि मूल उद्भवस्थान अविदित होने पर भी दर्शन एवं योगपरम्परा के उपलब्ध संस्कृत-प्राकृत साहित्य की रचना बहुत करके पश्चिमोत्तर, मध्य एवं पूर्व देश में हुई है, और वहाँ से ही भारत के अन्य सब भागों में अनुक्रम से उसका प्रसरण हुआ है; इतना ही नहीं, भारत के बाहर भी उसका प्रभावशाली प्रसार प्राचीन समय से ही होता रहा है।[२३]

३. गुजरात के साथ सम्बन्ध

गुजरात का अर्थ यहाँ विस्तृत है। इसमें सौराष्ट्र, आनर्त तथा उत्तर एवं दक्षिण गुजरात का भी समावेश विवक्षित है। मौर्य युग से तो गुजरात के साथ दर्शन

---

२३. देखो—श्री राहुल सांकृत्यायनकृत 'बौद्ध संस्कृति।'

एवं योग-परम्परा के सम्बन्ध के सूचक प्रमाण अधिकाधिक मिलते ही हैं,[२४] परन्तु यह सम्बन्ध एकदम अचानक मौर्य युग में ही हुआ ऐसा नहीं माना जा सकता। बुद्ध-महावीर के पहले की शताब्दियों में, पौराणिक वर्णन के कथनानुसार, यादवों का प्राधान्य द्वारका और गिरिनगर में था। सात्वत भागवत-परम्परा के साथ संकलित हैं। यादवपुंगव कृष्ण तो भागवतपरम्परा के सर्वसम्मत वैष्णव अवतार माने गये हैं। यादवों के दूसरे एक तपस्वी नेमिनाथ जैन-परम्परा के तीर्थंकर अथवा विशिष्ट अवतार माने जाते हैं। यादववंश के प्रभाव एवं विस्तार के साथ मुख्यतः वैष्णव धर्म का प्रसार पश्चिम से आगे बढ़कर दक्षिण आदि दूसरे देशों में हुआ हो ऐसा लगता है। शैव-परम्परा का कोई-न-कोई प्राचीन स्वरूप गुजरात में पहले ही से रहा है। वह सिन्धु-प्रदेश में से गुजरात की ओर आया हो अथवा दूसरे चाहे जिस मार्ग से परन्तु इतना तो सुनिश्चित प्रतीत होता है कि गुजरात की भूमि में शैवपरम्परा के मूल विशेष प्राचीन हैं।[२५] प्रभास पाटन का ज्योतिर्धाम और वैसे दूसरे पौराणिक शैवधाम यहां आये हैं तथा ग्राम, नगर एवं उच्च-नीच सभी जातियों में शिव के सादे स्वरूप की पूजा परापूर्व से ही प्रचलित रही है। शैव परम्परा के मुख्य देव हैं रुद्र या महेश्वर। न्याय-वैशेषिक परम्परा में ईश्वर को कर्ता का स्थान कब मिला यह तो अज्ञात है, परन्तु जब कर्ता के रूप में ईश्वर ने उस परम्परा में स्थान प्राप्त किया तब उस ईश्वर का वर्णन विष्णु या ब्रह्मा के रूप में नहीं किन्तु महेश्वर या पशुपति के रूप में मिलता है।[२६]

वैष्णव परम्परा के उत्तरकालीन तत्त्वज्ञान-विषयक विकास को देखने पर ऐसा ज्ञात होता है कि उस परम्परा का तत्त्वज्ञान सांख्य-विचारसरणी के ऊपर ही रचित है।[२७] मध्व के अतिरिक्त अब तक की ऐसी कोई वैष्णव परम्परा नहीं दिखाई पड़ती, जिसके तत्वज्ञान के मूल सिद्धांत सांख्य-परम्परा को छोड़ दूसरी किसी परम्परा में से लिए गए हों। शैव परम्परा की अधिकांश शाखाओं का सम्बन्ध न्याय-वैशेषिक परम्परा के साथ रहा है। जैन-परम्परा का तत्त्वज्ञान यों तो सांख्य और न्याय-वैशेषिक परम्परा से सर्वथा स्वतंत्र है, फिर भी उसके अनेक अंश ऐसे हैं जिनमें

---

२४. देखो गिरनारके शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण अशोकका शिलालेख।

२५. देखो 'शैवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास' पृ० १२६; 'गुजरातनो सांस्कृतिक इतिहास' खण्ड १, भाग १–२, पृ० २२१, २२६–३२।

२६. देखो 'प्रशस्तपादभाष्य' गत सृष्टिप्रक्रिया।

२७. देखो 'भारतीय तत्त्वविद्या' पृ० ५७–८, १२३, १३४–५।

सांख्य एवं न्याय-वैशेषिक परम्परा की मान्यताओं का समन्वय भी है।[२८] यह सब देखने पर ऐसा मालूम होता है कि बुद्ध-महावीर के पहले के समय में वैष्णव, शैव एवं जैन परम्परा के जो स्वरूप होंगे उनमें सांख्य, न्याय-वैशेषिक और जैन तत्त्वज्ञान की कोई-न-कोई विचारणा संकलित होनी चाहिए। वैदिक परम्परा का प्रधान स्तम्भ तो है क्रियाकाण्ड-प्रधान पूर्व-मीमांसा। बुद्ध-महावीर के पहले के समय में इस मीमांसा ने गुजरात में स्थान पाया हो ऐसा नहीं दीखता। मुख्यतया उपनिषद् के ऊपर अधिष्ठित उत्तर मीमांसा तो उत्तरकालीन है, अतः उस पौराणिक युग में गुजरात के साथ उसके सम्बन्ध का खास प्रश्न उठता ही नहीं है। इस पर से कहने का सार इतना ही है कि पुरातन युग में गुजरात के प्रदेशों में जो जो तत्वज्ञान की पद्धतियाँ प्रचलित थीं वे प्रायः सभी वैदिकेतर थीं।[२९]

योगपरम्परा के साधना-अङ्ग अनेक हैं, परन्तु उनमें अहिंसा, तप एवं ध्यान जैसे अङ्ग प्रधान हैं। भक्ति-प्रधान वैष्णव-भागवत, तपः प्रधान शैव-भागवत अथवा अहिंसा-संयम-प्रधान निर्ग्रन्थ – ये सभी परम्पराएँ योग के भिन्न-भिन्न अंगों पर अल्पाधिक भार दे करके ही विकसित होती रही हैं। अतएव इन परम्पराओं के साथ ही योग-परम्परा संकलित थी, इसमें शंका नहीं है। इस तरह बुद्ध-महावीर के पहले के युग के गुजरात का अस्फुट चित्र ऐसा अंकित होता है कि जिसमें तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सभी प्रसिद्ध वैदिकेतर परम्पराएँ रही हों और योग तो उन सभी परम्पराओं में किसी-न-किसी रूपसे संकलित रहा हो।

परन्तु लगभग बुद्ध-महावीर के समय से अथवा तो उनके कुछ ही वर्ष पीछे से गुजरात का चित्र ही अधिक स्पष्ट व सुरेख दिखाई देता है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने गिरि-नगर में सुदर्शन सरोवर बँधाया।[३०] चन्द्रगुप्त की राजधानी तो पाटलीपुत्र और

२८, देखो 'दर्शन और चिन्तन' पृ० ३६०; 'प्रमाणमीमांसा' प्रस्तावना (सिंघी जैन ग्रन्थमाला) पृ० १०।

२९. 'पुराणोमां गुजरात' पृ० ३६ पर श्री ध्रुव का जो मत उद्धृत है वह देखो। 'बोधायन' में निषिद्ध देशों की तालिका में आनर्त का भी समावेश किया गया है। इससे वहां आर्येतरोंका प्राधान्य सूचित होता है। देखो 'गुजरातनी कीर्तिगाथा' पृ० ३५ तथा श्रीदुर्गा-शंकरकृत 'भारतीय संस्कारो अने तेनुं गुजरातमां अवतरण' पृ० २०६ से।

३०. देखो—श्री विजयेन्द्रसूरिः 'महाक्षत्रप राजा रुद्रदामा' में रुद्रदामा का शिलालेख पृ० ८; तथा श्री रसिकलाल छो० परीख: 'काव्यानुशासन' भा० २, प्रस्तावना पृ० २६।

अर्थशास्त्र में भी सौराष्ट्रका उल्लेख है। देखो 'गुजरातनो सांस्कृतिक इतिहास' खण्ड १, भाग १–२, पृ० २७।

इतनी दूर गिरिनगर के साथ उसका सम्बन्ध – यह तनिक अचरज-सा मालूम होता है। शायद वह सम्बन्ध केवल राजकीय होगा, परन्तु पूर्ववर्ती नन्दों और उसके पौत्र अशोक आदि के जीवन का जब हम विचार करते हैं और राजकीय सम्बन्ध के साथ पहले ही से चले आनेवाले धार्मिकता के अनिवार्य संसर्ग के विषय में जब हम सोचते हैं, तब कम से कम ऐसा मानने में कोई अड़चन नहीं है कि गुजरात के साथ चन्द्रगुप्त का जो सम्बन्ध था उसमें धर्म-परम्परा का भी कुछ-न-कुछ प्रभाव होना चाहिए। परन्तु वह चाहे सो हो, उसके पौत्र अशोक मौर्य के धर्मशासन यह स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं कि अशोक की सत्ता गुजरात पर थी,[31] परन्तु वह केवल राजकीय नहीं थी; उसमें धार्मिकता का भाग मुख्य था। अशोक तथागत बुद्ध का पक्का अनुयायी था, परन्तु वह कट्टर साम्प्रदायिक नहीं था उसकी उदारता विश्व-इतिहास में अद्वितीय थी, ऐसा उसके धर्मशासन कहते हैं।[32] अशोक के धर्मशासनों पर से इतना कहा जा सकता

३१. देखो—श्री रसिकलाल छो० परीख: 'काव्यानुशासन' भाग २, प्रस्तावना पृ० २५–६; मूल लेख के लिए देखो भरतराम भा० मेहता: 'अशोकना शिलालेखो।'

३२. देवों का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब पाखण्डों को (सम्प्रदायके लोगों को) तथा प्रव्रजितों (साधुओं) को तथा गृहस्थों को दान से एवं विविध पूजा से पूजता है। परन्तु सब पाखण्डों (सम्प्रदायों) के सार की वृद्धि (देवों के प्रिय प्रियदर्शी राजा को जैसी लगती है) वैसे दान और पूजन देवों के प्रिय (प्रियदर्शी राजा) को नहीं लगते। परन्तु (यह) सार की वृद्धि अनेक प्रकार की है; और उसका मूल वाचागुप्ति (बोलने में संभालना) है। अपकारण से (तुच्छ कारण से) परपाखण्डगर्हणाद्वारा (दूसरों के सम्प्रदायकी निन्दा करके) आत्मपाखण्डपूजा (अपने सम्प्रदायकी पूजा) न हो (अच्छी नहीं)। प्रकारण से (योग्य कारण से) यह लघूकृत हो सकती है (उसकी निन्दा की जा सकती है। परन्तु तो भी उसे प्रकारण से (योग्य कारण से) परपाखण्ड की (दूसरे के सम्प्रदाय की) पूजा करनी चाहिए।

ऐसा करने पर वह अपने सम्प्रदायको बढ़ायगा, और दूसरे के सम्प्रदाय पर उपकार करेगा। इससे अन्यथा (उल्टा) करने पर वह अपने सम्प्रदायको क्षीण करेगा (नष्ट करेगा) और दूसरे के सम्प्रदाय पर भी अपकार करेगा। इसके अतिरिक्त 'मैं अपने सम्प्रदाय की शोभा बढ़ाता हूं, ऐसा समझकर जो कोई भी अपने सम्प्रदाय को पूजता है, और केवल अपने सम्प्रदायकी भक्ति से (भक्ति के कारण) दूसरे सम्प्रदाय की गर्हणा (निन्दा) करता है वह वैसा करने से अपने सम्प्रदाय की बहुत भारी हानि करता है।

अन्यमनस् के (भिन्न धर्म के ऊपर मन लगाने वाले मनुष्य के) धर्म को सुनना तथा (उसकी) शुश्रूषा करना यही अच्छा (समवाय अथवा) संयम है। देवों के प्रिय (प्रियदर्शी राजा की यही इच्छा है कि सब पाखण्ड (सम्प्रदाय के लोग) बहुश्रुत (बहुज्ञानी) तथा कल्याणगम (कल्याण की ओर जाने वाले; कल्याणसाधक) बनें। जो वहां-वहां (अपने-अपने सम्प्रदाय में) प्रसन्न हों उनसे कहना (कि) सब सम्प्रदायों के सार की महती वृद्धि (देवों के प्रिय प्रियदर्शी राजा को जैसी लगती है) वैसे दान और पूजन देवों के प्रिय (प्रियदर्शी राजा) को नहीं लगते। —अशोक के शिलालेख में १२ वां शासन

है कि उस काल में सौराष्ट्र में अनेक धर्म-पंथ प्रवर्तमान थे। उनमें से जैन[33] और बौद्ध के अस्तित्व के बारे में तो प्रश्न ही नहीं है, परन्तु ऊपर जिनका उल्लेख किया है वे वैष्णव एवं शैव आदि इतर पौराणिक धर्म भी प्रवर्तमान होने चाहिएं। प्राकृत भाषा द्वारा उसने अपने राज्य के दूसरे अनेक भागों की प्रजा को जिस धर्म के अनुपालन का उद्‌बोधन किया है वह मुख्यतया मानव-धर्म है,[34] कोई विशिष्ट पांथिक धर्म नहीं; और मानव-धर्म की सच्ची नींव तो योग के अंगों पर अधिष्ठित है। बुद्ध ने

---

३३. जैन आगम 'उत्तराध्ययन' (अ० २२), 'अंतगड' आदि में उल्लिखित जैन परम्परा के अनुसार बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और उनके भाई रथनेमि आदि तपस्वियों का सम्बन्ध सौराष्ट्र के साथ है ('काव्यानुशासन भा० २, प्रस्तावना पृ० २१)। अशोक के पौत्र सम्प्रति ने उज्जयिनी में रह कर जब मौर्यशासन चलाया तब उसने पितृपरम्परा के देशों में जैन-धर्म का विशेष प्रचार एवं प्रसार किया। उन देशों में आन्ध्र, द्रविड आदि नये प्रदेश भी आते हैं ('बृहत्कल्प' गाथा ३२७५–८९; 'निशीथ' गाथा २१५४, ४४६३–६५, ५७४४–५८; 'निशीथ: एक अध्ययन' पृ० ७३) मतलब कि उसे आधुनिक मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र, राजस्थान जैसे प्रदेशों में नया प्रचार करने की आवश्यकता नहीं थी। कालकाचार्य की शकशाहियों को बसाने की कथा प्रसिद्ध है ('निशीथ' गा० २८६०); आचार्य धरसेन के पास गिरनार पर दक्षिण देश के जैन साधु अध्ययन करने के लिए आये थे ऐसी बात दिगम्बरीय परम्परा में सुविख्यात है ('धवला' प्रथम भाग, प्रस्तावना); नयचक्र के प्रसिद्ध प्रणेता मल्लवादी और उनके गुरु का वलभी के साथ का सम्बन्ध कथाओं में निर्दिष्ट है ('प्रभावक-चरित्र' प्रबन्ध १०) और वलभी में जैन आगमों की वाचना वहां जैन परम्परा के प्राचीन दृढ़मूल अस्तित्व की सूचक है; वलभी में 'विशेषावश्यकभाष्य' के कर्ता जिनभद्र हुए थे ('भारतीय विद्या' ३–१, पृ० १९१)—इन सब बातों को ध्यान में लेने पर सौराष्ट्र में जैन धर्म का प्रचार प्रागैतिहासिक काल से किसी न किसी रूप में चला आता था ऐसा कहा जा सकता है। यद्यपि प्राचीन शिलालेखीय अथवा ताम्रपत्रीय सामग्री उपलब्ध नहीं हुई है, तथापि साहित्यिक परम्परा के आधार पर यह बात सिद्ध हो सकती है। विशेष के लिए देखो 'मैत्रककालीन गुजरात' पृ०४१६–२७।

३४. "..... साधु मातरि च पितरि च सुस्रूसा मितासंस्तुतञातीनं बाम्हणसमणानं साधु दानं प्राणान साधु अनारभो अपव्ययता अपभाडता साधु......।"

—अशोक के शिलालेख में तीसरा शासन

"........अनारंभो प्राणानं अविहीसा भूतानं ञातीनं संपटिपती ब्रह्मणसमणानं संपटिपती मातरि पितरि सुस्रुसा थैरसुस्रुसा ......।"

—अशोक के शिलालेख में चौथा शासन

"....... तत इदं भवति दासभतकम्हि सम्यप्रतिपती मातरि पितरि साधु सुस्रुसा मित-सस्तुतञातिकानं ब्राह्मणसमणानं साधु दानं प्राणानं अनारंभो साधु........।"

—अशोकके शिलालेखमें ग्यारहवां शासन

इन मूल उद्धरणों के अतिरिक्त बत्तीसवीं पादटीप में दिये गये बारहवें शासन के अनुवाद पर से भी अशोक के धर्म-विषयक व्यापक दृष्टि-बिन्दुका ख्याल आ सकता है।

अपने उपदेशों में अधिक भार दिया है तो वह योग के अंगों पर ही।[३५] अतः गुजरात में योग-परम्परा का व्यावहारिक चित्र अशोक की धर्म-लिपियों में दृष्टिगोचर होता है। इसके साथ ही जब हम जैन आदि इतर परम्पराओं का विचार करते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि अशोककालीन गुजरात में इतर परम्पराएँ भी मानव-धर्म के ऊपर अधिक भार देती होंगी। परन्तु अशोक के अनन्तर जब शकयुग आता है और उसमें रुद्रदामा का शासन शुरू होता है तब उस तत्त्वज्ञान और योग-परम्परा के चित्र में अधिक उभार नजर आता है।

ईसा की दूसरी शती का रुद्रदामा का वह सुश्लिष्ट संस्कृत भाषा में निबद्ध लेख मानव-धर्म के विशेष परिपालन की बात तो कहता ही है,[३६] साथ ही न्याय-वैशेषिक एवं व्याकरण आदि शास्त्रों के ज्ञाता के रूप में भी उसका निर्देश करता है।[३७] शक होने पर भी एक तो आर्यभाषा संस्कृतमय नाम और उसमें भी शिव का रुद्र के रूप में निर्देश तथा लेखगत विशेषणों में से फलित होने वाला उसका दार्शनिक ज्ञान—इन सबसे यही सूचित होता है कि अशोक ने बुद्ध भगवान् की सहज प्राकृत भाषा द्वारा जो घोषणा की थी उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न शक-सेनापति और सम्भवतः रुद्रभक्त रुद्रदामा ने किया और उसे संस्कृत भाषा द्वारा अचल पद भी दिया।

इसके अतिरिक्त अशोक के धर्म के विषय में देखो डॉ. देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर रचित और भरतराम भा. मेहता द्वारा गुजराती में अनूदित 'अशोक चरित' प्रकरण ४।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ ६.९२॥ —मनुस्मृति

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥ —मनुस्मृति

विशेष के लिये देखो 'मानवधर्मसार' पृ० ५६–७।

३५. इसी लेखक की पुस्तक 'अध्यात्मविचारणा' का अध्यात्मसाधना नामक प्रकरण, विशेषतया पृ. १०२ से।

३६. यथार्थहस्तो(१३) च्छ्रार्योजतोर्जितधर्मानुरागेण शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्तविपुलकीर्तिना तुरगगजरथचर्यासिचर्मनियुद्धाद्या...... [ति] परबललाघवसौष्ठवक्रियेण अहरहर्दानमानान(१४)वमानशीलेन स्थूललक्षेण यथावत्प्राप्तैर्बलिशुल्कभागैः कनकरजतवज्रवैडूर्यरत्नोपचयनिष्यन्दमानकोशेन स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य...न प्रमाणमानोन्मानस्वरगतिवर्णसारसत्त्वादिभिः (१५) परमलक्षणव्यंजनैरुपेतकान्तमूर्त्तिना स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्यास्वयंवरानेकमाल्यप्राप्तदाम्न् [आ] **महाक्षत्रपेन रुद्रदाम्ना....**

[१९] **पह्लवेन कुलैपपुत्रेणामात्येन सुविशाखेन** यथावदर्थधर्मव्यवहारदर्शनैरनुरागमभिवर्धयता शक्तेन दान्तेनाचपलेनाविस्मितेनार्य्येणाहार्येण (२०) स्वधितिष्ठता धर्मकीर्तियशांसि भर्तुरभिवर्द्धयतानुष्ठितमिति। —गिरनार का रुद्रदामा का शिलालेख

गिरिनगर के पश्चात् तुरन्त ही सौराष्ट्र में वलभीपत्तन हमारा ध्यान आकर्षित करता है। वलभी का आर्थिक, राजकीय, सांस्कृतिक एवं धार्मिक इस प्रकार चतुर्विध अभ्युदय, उत्तरोत्तर वर्धमान दशा में, मैत्रक राजाओं के राज्यकाल में उनके ताम्रपत्र आदि के द्वारा हमें ज्ञात होता है।[३८] मैत्रकों का राज्य ४७० ई० से शुरू होता है, परन्तु वलभी के उत्कर्ष की नींव तो बहुत पहले ही से पड़ चुकी थी। इसीसे एक अथवा दूसरे कारणवश गिरिनगर का वर्चस्व कम होने पर वलभीपत्तन उसका स्थान लेता है और इसीलिए हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा के विद्वान् और भिक्षुक वलभी में अनेकविध सांस्कृतिक और धार्मिक प्रवृत्तियों के पोषण के लिए प्रश्रय पाते हैं।[३९] वलभी में वैदिक विद्वान् दान लेते दिखाई पड़ते हैं;[४०] जैन और बौद्धों की विद्याशालाएँ तथा धर्मस्थान गौरव एवं वैभव के समुन्नत शिखर पर प्रतिष्ठित होते हैं और राजा एवं धनाढ्य उनका बहुत ही सत्कार-पुरस्कार करते हैं।[४१] जहाँ ऐसा वातावरण न हो वहाँ स्वाभाविक रूप से ही बड़ी संख्या में विविध परम्पराओं के विद्वान् और संघ न तो आने के लिए और न स्थिरवास करने के लिए लालायित हो सकते हैं। वैदिक, बौद्ध एवं जैन परम्परा की विद्या-त्रिवेणी वलभी में प्रवाहित हुई थी। इसके परिणाम-स्वरूप इतर साहित्य के अतिरिक्त दर्शन एवं योग परम्परा का साहित्य भी वलभी में ठीक ठीक मात्रा में रचा गया। वहाँ रचित, विवेचित और समीक्षित दार्शनिक एवं योग-परम्परा के ग्रन्थों का सम्पूर्ण ख्याल आ सके ऐसे विश्वस्त उल्लेख यद्यपि इस समय उपलब्ध नहीं हैं, तथापि जो कोई विश्वसनीय उल्लेख मिलते हैं उन पर से इतना तो कहा जा सकता है कि वैदिक परम्परा के विद्वानों ने वलभी क्षेत्र में दर्शन एवं योग-परम्परा के बारे में यदि कुछ लिखा होगा, तो भी वह इस समय तो अज्ञात है। बौद्ध-परम्परा के विशिष्ट भिक्षुओं ने वहाँ ठीक-ठीक रचनाएँ की होंगी, क्योंकि ह्यु एनसांग के कथनानुसार वहाँ बौद्ध भिक्षुकों का बहुत बड़ा समुदाय रहता था और वहाँ बड़े-बड़े विहार भी थे। आज तो उन बौद्ध विद्वानों में से दो के नाम निर्विवाद रूप से ज्ञात हैं, जिन्होंने वलभी क्षेत्र में रह कर दार्शनिक रचना की हो। वे दो हैं गुणपति और स्थिरमति। ह्यु एनसांग ने

---

३७. देखो रुद्रदामा के उपर्युक्त शिलालेख की १३वीं पंक्ति में आये हुए ये शब्द : 'शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्याना विद्याना महतीना' इत्यादि।

३८. देखो डॉ. हरिप्रसाद शास्त्रीकृत 'मैत्रककालीन गुजरात' भाग २; तथा 'गुजरातनो सांस्कृतिक इतिहास' पृ. ४४।

३९. 'मैत्रककालीन गुजरात' में धार्मिक परिस्थिति पृ. ३३९ से।

४०. वही, पृ० ३५५ और उसका परिशिष्ट नं० ३, पृ० ६८९।

४१. वही, बौद्धधर्म के लिए पृ० ३८५ से और जैन धर्म के लिए पृ० ४१६ से।

इन दोनों विद्वानों का निर्देश किया है।[४२] गुणमति और स्थिरमति ने जिन छोटे-बड़े ग्रन्थों की रचना की होगी वे दार्शनिक ग्रन्थ खास करके बौद्ध दर्शन के होंगे। यदि सुप्रसिद्ध बहुश्रुत विद्वान् शान्तिदेव, जैसा समझा जाता है उस तरह, सौराष्ट्र के हों तो सम्भवतः उनकी प्रवृत्ति का केन्द्र, समय की दृष्टि से विचार करने पर, वलभी क्षेत्र होगा। वलभी हो या दूसरा कोई स्थान, परन्तु शान्तिदेव ने गुजरात में अपनी कृतियां रची हों तो ऐसा कहा जा सकता है कि उनकी सुप्रसिद्ध तीनों कृतियाँ,[४३] जो कि बौद्ध दर्शन-परम्परा की हैं, मैत्रककालीन विशिष्ट सम्पत्ति हैं।

अशोक के शासनकाल से लेकर वलभी के भंग तक के लगभग एक हजार वर्षों में रचित दर्शन एवं योग-विषयक ज्ञात-अज्ञात कृतियों का जब हम विचार करते हैं तब हमारा ध्यान मुख्य रूप से जैन कृतियाँ ही आकर्षित करती हैं। मगध में रचित और सुरक्षित तथा मथुरा में सुसंकलित हुए जैन आगम-साहित्य की दो वाचनाएँ वलभी क्षेत्र में ही हुई हैं।[४४] जो जैन आगम-साहित्य आज उपलब्ध है वह समग्र साहित्य है तो प्राकृत में, परन्तु उसमें मुख्य विषय तो दर्शन एवं योग अर्थात् चारित्र्य का ही है। ये ग्रन्थ वलभी क्षेत्र में संशोधित एवं सुव्यस्थित होने से उनकी मौलिक रचना का श्रेय वलभी क्षेत्र अथवा गुजरात के हिस्से में नहीं आता; फिर भी वलभी क्षेत्र में विहार करने वाले और बसने वाले अनेक धुरन्धर जैन विद्वानों द्वारा रचित दार्शनिक और योगविषयक कृतियाँ प्राकृत एवं संस्कृत में आज भी उपलब्ध हैं। श्री जिनभद्र-गणी क्षमाश्रमण का प्राकृत विशेषावश्यकभाष्य, उस पर की स्वोपज्ञ संस्कृत-वृत्तिके साथ, एक ही ऐसा आकर-ग्रन्थ है कि जिसमें जैन दर्शन को केन्द्र में रखकर भारतीय दर्शनों की स्पष्ट चर्चा की गई है और जिसमें ध्यान, योग या चारित्र्य के बारे में भी विशद चर्चा है।[४५] श्रीमल्लवादिकृत नयचक्र और उस पर की श्री सिंहगणी क्षमाश्रमण की[४६] विस्तृत व्याख्या भी वैसा ही एक दार्शनिक आकर-ग्रन्थ है। उस में जैन दर्शन के मुख्य सिद्धान्त नय और अनेकान्तवाद के आसपास लगभग सभी भारतीय दर्शनों के मुख्य-मुख्य मन्तव्योंका तार्किक दृष्टि से गुम्फन किया गया है। इन

---

४२. 'मैत्रककालीन गुजरात' पृ० ३८५।

४३. बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय और सूत्रसमुच्चय।

४४. 'वीरनिर्वाण संवत् और जैनकालगणना' पृ० ११०।

४५. 'भारतीय विद्या' ३.१, पृ० १६१; तथा उन्हीं का 'ध्यानशतक'।

४६. देखो 'आत्मानन्द प्रकाश' में प्रकाशित मुनि श्री जम्बूविजयजी का लेख, वर्ष ४५, अंक ७।

दो ग्रन्थोंका उल्लेख तो इसलिए यहाँ किया गया है कि उससे सौराष्ट्रने दर्शन और योग-परम्परा में जो सिद्धि पाई है उसका कुछ आभास मिल सके।[४७]

वलभी क्षेत्र के पश्चात् वडनगर (आनन्दपुर) और भिन्नमाल ये दो गुजरात के नगर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वडनगर ने आठवीं शताब्दी के पूर्व भी किसी-न-किसी प्रकार की साहित्यसिद्धि प्राप्त की होगी, क्योंकि वह भी गिरिनगर की भाँति विद्याव्यासंगी और बुद्धिशील नागर जाति का एक केन्द्र रहा है।[४८] जैन-परम्परा का भी इस नगर के साथ विशिष्ट सम्बन्ध पहले ही से रहा है,[४९] फिर भी आठवीं शती तक इस नगर में दर्शन और योग-परम्पराविषयक छोटी-बड़ी जैन या जैनेतर कृति की रचना हुई हो तो वह अज्ञात है। अतः अब हम भिन्नमाल की ओर दृष्टिपात करें।

भिन्नमाल तत्कालीन गुजरात की एक राजधानी थी। इस नगर का इतिहास तो विशेष प्राचीन है,[५०] परन्तु इसका गौरव बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ गया कि ह्यु्एनसांग वलभी की भाँति इसका भी विस्तार से वर्णन करता है।[५१] यहाँ वैदिक, बौद्ध एवं जैन इन तीनों परम्पराओं की अनेकविध शाखाएँ विद्यमान थीं। प्रत्येक शाखा के विद्वान् यहाँ आकर बसे थे और विद्याप्रवृत्ति चलाते थे। भिन्नमाल क्षेत्र में रचित ज्योतिष, काव्य, कथा आदि अनेक विषयक ग्रन्थ-रत्न आज भी उपलब्ध हैं। इस क्षेत्र में जाबालिपुर का भी समावेश करना चाहिए। इस क्षेत्र में संस्कृत और प्राकृत भाषा में रचित अनेक कृतियाँ मिलती हैं।[५२] इनमें ऐसी भी कृतियाँ हैं जिनका सम्बन्ध

---

४७. देखो 'विद्याकेन्द्र वलभी के विषय में 'काव्यानुशासन' भा० २, प्रस्तावना, पृ० ७५।

४८. देखो 'नागर' के विषय में 'गुजरातनो सांस्कृतिक इतिहास' खण्ड १, भाग १–२, पृ० १६६।

४९. 'निशीथचूर्णि' (गा. ३३४४) में इस नगरी को आनन्दपुर तथा अक्करथली कहा है। देखो 'निशीथ : एक अध्ययन' पृ० ७४।

५०. देखो 'गुजरातनी राजधानीओ' पृ० ६२; 'गुजरातनो सांस्कृतिक इतिहास' खण्ड १, भाग १–२ पृ० ४४ से।

५१. देखो 'गुजरातनी राजधानीओ' पृ० १०२; 'गुजरातनो सास्कृतिक इतिहास' खण्ड १, भाग १–२, पृ० ६०।

५२. 'गुजरातनी राजधानीओ' पृ० १०३। उसमें 'कुवलयमाला' की रचना भिन्नमाल में हुई थी ऐसा लिखा है, परन्तु वह सुधारना चाहिए, क्योंकि उसकी रचना जाबालिपुर में हुई है। इसके अतिरिक्त जाबालिपुर में जिनेश्वरसूरि ने 'अष्टकप्रकरणवृत्ति' एवं 'चैत्यवन्दनविवरण' की तथा बुद्धिसागराचार्य ने व्याकरण की भी रचना की है। 'कान्हडदेप्रबन्ध' आदि भी वहीं रचे गये हैं।

केवल दर्शन और योग की परम्परा के साथ ही है। ऐसी उपलब्ध कृतियां मुख्य रूप से आचार्य हरिभद्र की हैं। हरिभद्र के अतिरिक्त अन्य बौद्ध, जैन और वैदिक विद्वानों ने इन विषयों के ऊपर कुछ-न-कुछ रचना की होगी ऐसी धारणा रखना सर्वथा अनुपयुक्त नहीं है, परन्तु आठवीं शताब्दी तक इस क्षेत्र में रचित और विद्वानों का ध्यान आकर्षित करे ऐसी दर्शन और योग-परम्परा-विषयक कृतियां तो आचार्य हरिभद्र की ही हैं। अतएव अब हम यह सोचें कि दर्शन एवं योग-परम्परा के विचार-विकास में आचार्य हरिभद्र का स्थान क्या है और वह कैसा है ?

४. आचार्य हरिभद्र का स्थान

आचार्य हरिभद्र के समय तक देश का ऐसा कोई भी भाग दृष्टिगोचर नहीं होता जहाँ कि दार्शनिक एवं योग के विचारों के छोटे-बड़े अखाड़े न चलते हों। हरिभद्र के पूर्ववर्ती और समकालीन ऐसे अनेक जैन-जैनेतर विद्वान् हुए हैं, जिनकी विचारसूक्ष्मता, वक्तव्य की स्पष्टता और बहुश्रुत तार्किकता हरिभद्र से भी बढ़कर है। वैसे ही विशिष्ट विद्वानों की समर्थ कृतियों के अध्ययन और परिशीलन के आधार पर ही हरिभद्र के मानसिक-आध्यात्मिक व्यक्तित्वका निर्माण हुआ है। ऐसा होने पर भी जब दर्शन और योग-परम्परा के विकास में हरिभद्र की क्या देन है अथवा उसमें दूसरे किसी ने न दिखाई हो वैसी कौनसी नवीनता का उन्होंने समावेश किया है यह कहना हो तब तो हरिभद्र के पूर्वकालीन तथा उत्तरकालीन आचार्यों की दृष्टि के साथ उनकी दृष्टि की तुलना करने पर ही कुछ यथार्थ विधान किया जा सकता है। इस दृष्टि से जब मैं वैसी तुलना करता हूँ, तब मुझे असन्दिग्ध रूप से प्रतीत होता है कि हरिभद्र ने जो उदात्त दृष्टि, असाम्प्रदायिक वृत्ति और निर्भय नम्रता अपनी कृतियों में प्रदर्शित की है वैसी उनके पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती किसी भी जैन-जैनेतर विद्वान् ने शायद ही प्रदर्शित की हो।

हरिभद्र ने दर्शन और योग-परम्परामें जो योग-दान किया है अथवा उसमें जो नव्यता लाने का प्रयत्न किया है उसकी भूमिका ऊपर सूचित उनकी दृष्टि और वृत्ति में रही है। यह दृष्टि और यह वृत्ति संक्षेप में निम्नलिखित पाँच गुणों के द्वारा प्रकट होती है—

१. **समत्व** — आध्यात्मिकता का परम लक्ष्य समभाव या निष्पक्षता है। हरिभद्र ने अपने दर्शन और योग के ग्रन्थों में इसे किस हद तक साधा है यह हम आगे देखेंगे।

२. **तुलना** — हरिभद्र ने परापूर्व से प्रचलित खण्डन-मण्डन की परिपाटी में तुलना-दृष्टि को जो और जैसा स्थान दिया है वह और वैसा स्थान उनके पूर्ववर्ती, समवर्ती

अथवा उत्तरवर्ती किसी ग्रन्थ में मेरे देखने में आया नहीं हैं। सत्य या मतैक्य के अधिकाधिक समीप पहुँचा जा सके इस हेतु से उन्होंने परवादी के मन्तव्यों के हृदय में अधिक से अधिक गहरा उतरने का प्रयत्न किया है और अपने मन्तव्यके साथ वह परवादीका मन्तव्य, परिभाषाभेद अथवा निरूपणभेद होने पर भी, किस तरह साम्य रखता है— यह उन्होंने स्व-परमतकी तुलना द्वारा अनेक स्थानों पर बताया है। पर-मतकी समालोचना करते समय कदाचित् उसे अन्याय हो जाय ऐसी पापभीरु वृत्ति उन्होंने उस तुलना में जिस प्रकार दिखलाई है वैसी वृत्ति शायद ही किसी अन्य विद्वान् ने दिखलाई हो।

३. **बहुमान वृत्ति—** अतीन्द्रिय और शास्त्रीय परम्परागत तत्त्वोंकी समालोचना करने में अनेक भयस्थान रहे हुए हैं। वैसे भयस्थानोंको पार करके कोई समालोचना करे, उस समय भी प्रत्येक बात में पर-परम्परा के मन्तव्यों के साथ सर्वथा सम्मत हो जानेका काम बहुत कठिन होता है। ऐसी स्थिति हो तब भी हरिभद्र, परवादीके मन्तव्यों से वह अलग पड़ने पर भी, उनके प्रति जो विरल बहुमान और आदर प्रदर्शित करते हैं उनका आध्यात्मिक क्षेत्र में विरल प्रदान कहा जा सकता है। सत्य के समर्थन का और आध्यात्मिकता का दावा करनेवाले किसी भी जैन-जैनेतर विद्वान् ने अपने विरोधी सम्प्रदाय के प्रवर्तक या विद्वान् के प्रति हरिभद्रने दिखलाया है वैसा बहुमान यदि दिखलाया हो तो वह मैं नहीं जानता।

४. **स्वपरम्परा को भी नई दृष्टि और नई भेंट—** सामान्यतः दार्शनिक विद्वान् अपनी समग्र विचारशक्ति या पाण्डित्यबल पर-परम्परा की समालोचना में लगा देते हैं और अपनी परंपराको कहने-जैसा सत्य स्फुरित होता हो, तब भी वे स्वपरम्परा के रोष का भाजन बनने की साहसवृत्ति नहीं दिखलाते और उस बारे में जैसा चलता है वैसा चलते रहने देने की वृत्ति रखकर अपनी परम्पराको ऊपर उठाने का अथवा उसकी सच्ची कमी दिखलाने का शायद ही प्रयत्न करते हैं। किन्तु हरिभद्र इस बारे में भी सर्वथा निराले हैं। उन्होंने पर-वादियों के अथवा पर-परम्पराओं के साथ के व्यवहार में जैसी तटस्थवृत्ति और निर्भयता दिखलाई है वैसी ही तटस्थवृत्ति और निर्भयता स्वपरम्परा के प्रति कई मुद्दे उपस्थित करने में भी दिखलाई है। यह हम आगे देखेंगे।

५. **अन्तर मिटाने का कौशल—** सामान्यतः बड़े-बड़े और असाधारण विद्वान् जब चर्चा में उतरते हैं अथवा कुछ लिखते हैं तब उसमें विजिगीषा तथा स्वपरम्परा को श्रेष्ठ स्थापित करने की भावना मुख्य रूपसे रहती है, जिससे सम्प्रदाय-सम्प्रदाय के

बीच और एक ही सम्प्रदाय की विविध शाखाओं के बीच बहुत बड़ा मानसिक अन्तर पड़ जाता है। वैसे अन्तर के कारण विरोधी पक्ष में रही हुई ग्रहण करने जैसी उदात्त वस्तुओं को भी शायद ही कोई ग्रहण कर सकता है। इसके परिणाम-स्वरूप परिभाषाओं की शुष्क व्याख्या और शाब्दिक धोखाधड़ी एवं विकल्प-जाल के आवरण में सत्य की सांस घुट जाती है। यह स्थिति हरिभद्र के सूक्ष्म अन्तश्चक्षुने देखी। फलतः उन्होंने विरल कहे जा सके ऐसे अपने दर्शन और योग-परम्परा के ग्रन्थों में ऐसी शैली अपनाई है कि जैन-परम्परा के मौलिक सिद्धान्त जैनेतर परम्पराएँ उनकी अपनी परिभाषा में सरलता से समझ सकें और जैनेतर बौद्ध या वैदिक परम्परा के अनेक मन्तव्य अथवा सिद्धान्त जैन परम्परा भी समझ सके. विरोधी समझे जानेवाले और विरोध को पोसनेवाले भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के बीच हो सके उतना अन्तर कम करने का योगिगम्य मार्ग हरिभद्र ने विकसित किया है, और सब-कोई एक-दूसरे में से विचार एवं आचार उन्मुक्त मन से ग्रहण कर सके ऐसा द्वार खोल दिया है, जो सचमुच ही विरल है।

इस प्रकार आचार्य हरिभद्र ने दार्शनिक और योग-परम्परा में विचार एवं वर्तन की जो अभिनव दिशा उद्घाटित की है वह खास करके आज के युग के असाम्प्रदायिक एवं तुलनात्मक-ऐतिहासिक अध्ययन में अत्यन्त उपकारक सिद्ध हो सकती है।

दार्शनिक परम्परा में आचार्य हरिभद्रकी विशेषता

तीसरे व्याख्यान का विषय है : दार्शनिक परम्परा में हरिभद्र द्वारा दाखिल की गई नवीन दृष्टि। दूसरे व्याख्यान के अन्त में जिन पाँच गुणों अथवा विशिष्टताओं का सूचन किया है उनमें से प्रारम्भ के तीन गुण उनके दो दार्शनिक ग्रन्थों में बहुत ही स्पष्ट रूप से व्यक्त हुए हैं। इन दो ग्रन्थों में से पहला है षड्दर्शनसमुच्चय और दूसरा है शास्त्रवार्तासमुच्चय।

दर्शन का सच्चा भाव तो है : वस्तुमात्र के यथार्थ स्वरूप का अवगाहन अथवा उसके लिए प्रयत्न करना। सत्य का स्वरूप निःसीम और अनन्तविध है। एक ही व्यक्ति को भी वह बहुत बार कालक्रम से विविध रूप में भासित होता है; और अनेक व्यक्तियों में भी सत्य, देश और काल-भेद से, भिन्न-भिन्न रूप में आविर्भूत होता है। इससे किसी एक व्यक्ति का सत्य-दर्शन परिपूर्ण एवं अन्तिम तथा अन्य व्यक्ति द्वारा देखे गये सत्यांश से सर्वथा निरपेक्ष नहीं हो सकता। अतएव सत्य की पूर्ण कला के समीप पहुँचने का राजमार्ग तो यह है कि प्रत्येक सत्य-जिज्ञासु इतर व्यक्ति के दर्शन को समादर एवं सहानुभूति से समझने का प्रयत्न करे। वस्तुस्थिति ऐसी होनी चाहिए, परन्तु मानव-चित्त में सत्य की जिज्ञासा के साथ ही कितने ही मल भी विद्यमान होते हैं। वैसे मलों की तीव्रता अथवा मन्दता के कारण जिज्ञासु अधिक मध्यस्थता धारण नहीं कर सकता और पर-मत अथवा पर-दर्शन के साथ संघर्ष में आता है। इस प्रकार एक ओर विशिष्ट व्यक्ति मत-विरोध या मत-विसंवाद दूर करने का प्रयत्न करता है, तो दूसरी ओर अनेक साधारण व्यक्ति मतभेद को क्लेशभूमि में परिवर्तित कर देते हैं। ऐसा संवाद-विसंवाद का चक्र सभी धर्म-पंथों में किसी-न-किसी रूप में प्रवर्तित देखा जाता है।

इसीलिए प्रियदर्शी अशोक ने अपने धर्मशासनों में ब्राह्मण एवं श्रमण परम्परा में समाविष्ट होने वाले सभी छोटे-बड़े पंथों को उद्दिष्ट करके कहा है कि सभी धार्मिक आपस-आपस में संवादपूर्वक बर्ताव करे। जो पर-पाषण्ड या पर-धर्म या पर दर्शन की निन्दा करता है वह वस्तुतः स्व-पाषण्ड अर्थात् स्वधर्म की ही निन्दा करता है।[1]

---

१. देखो दूसरे व्याख्यान की पादटीप नं० ३२ में उद्धृत अशोक का बारहवाँ शासन।

अशोक ने जैसे सभी ब्राह्मण-श्रमण वर्गों को उद्दिष्ट करके शिक्षा दी है, वैसे ही बौद्ध-निकायों को उद्दिष्ट करके भी सलाह और बोध दिया है। अशोक जब बुद्ध-धर्म-संघ का त्रिशरण स्वीकार करके बौद्ध उपासक हुआ, तब उसने बौद्ध धर्म में पैदा हुए पक्ष-पक्षान्तरों और भिन्न-भिन्न निकायों के बीच, सत्य के दावे के लिए ही, होने वाली गाली-गलौच को देखकर उसे दूर करने के लिए भदन्तों को भी नम्र सूचना की है।[२]

अशोक के धर्मशासन सूचित करते हैं कि उसके समय में ब्राह्मण और श्रमण वर्ग के बीच दर्शन और धर्म के विषय में कैसी अनिष्ट स्थिति प्रवर्तमान थी।

दर्शन या तत्त्वज्ञान धर्म-सम्प्रदाय के आधार पर ही टिकता और विकसित होता है, तो धर्म-सम्प्रदाय भी तत्त्वज्ञान की भूमिका के बिना कभी स्थिर नहीं हो सकता। दोनों का मिलन जैसे आवश्यक है वैसे ही हितावह भी है, परन्तु जब कोई एक दर्शन अमुक धर्म-सम्प्रदाय के साथ संकलित हो जाता है तब उसके साथ दूसरी अनेक वस्तुएँ भी अस्तित्व में आती हैं। दर्शन और आचारविषयक ग्रन्थ, उनके प्रणेता और व्याख्याता, इन सबको पोसनेवाला और आदर देनेवाला अनुयायीवर्ग—इस तरह दर्शन और धर्म दोनों मिलकर एक विशिष्ट प्रकार का जीवित सम्प्रदाय बनता है। सम्प्रदाय के पुरस्कर्ता चाहें या न चाहें, परन्तु उसमें एक ऐसा वातावरण निर्मित होता है जिससे कि सम्प्रदायों में मात्र श्रेष्ठता-कनिष्ठता की ही वृत्ति उदित नहीं होती, बल्कि वे धीरे-धीरे दूसरे को हेय और अस्पृश्य तक मानने लगते हैं; इतना ही नहीं, इतिहास में ऐसे अनेक प्रसंग भी उल्लिखित हैं जिनमें सम्प्रदायभेद के कारण ही गाली-गलौच, मारपीट और लड़ाई तक की नौबत पैदा हुई थी।

सत्य-दर्शन और सत्यलक्षी आचार के नाम पर ही जब तुमुल युद्ध अथवा भीषण वादविवाद हो, तब अशोक जैसे का चित्त द्रवित हो और वह ध्रुव शिला-पट्टों में प्रकट हो, यह स्वाभाविक है। अशोक तथा उसके जैसे दूसरे कई लोगों की सावधानी के बावजूद भी उत्तर काल में इस शुष्क वाद और विवाद का चक्र रुका नहीं है। इसके प्रमाण प्रत्येक परम्परा के दर्शन और धर्म-विषयक ग्रन्थों में अल्पाधिक मिलते ही हैं।[३]

---

२. देखो 'अशोकना शिलालेखो' (गुजराती) : सारनाथ का शिलालेख।

३. देखो इसी लेखक के 'दर्शन अने चिन्तन' (गुजराती) में 'साम्प्रदायिकता अने तेना पुरावाओनुं दिग्दर्शन' नामक लेख पृ. ११०६ से ११९५; 'कथापद्धतिना स्वरूप अने तेना साहित्यनुं दिग्दर्शन' पृ. ११९६ से १२६३। इसमें वाद एवं तद्विषयक साहित्य के विकास का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है।

अक्षपाद और बादरायण जैसों के सूत्र-ग्रन्थों में पर-मत की समीक्षा तो है, पर उनमें कोई कटु शब्द नहीं आता; परन्तु इन्हीं ग्रन्थों के व्याख्याता आगे जाकर खण्डन-मण्डन के रस में इतने बह गये कि वे प्रतिवादी को 'पुरुषापसद', 'प्राकृत', 'म्लेच्छ' या 'बाह्य' जैसे विशेषणों से विभूषित करने में गौरव मानने लगे। प्रतिवादियों का तिरस्कार करने वाली ऐसी वृत्ति के प्रभाव से बौद्ध और जैन भी अलिप्त नहीं रह सके हैं। ब्राह्मण-श्रमण परम्परा का ऐसा धार्मिक वातावरण चारों ओर फैला हुआ था। इसीमें हरिभद्र का जन्म और संवर्धन हुआ। उन्होंने जब श्रमण-दीक्षा अंगीकार की तब उस परम्परा में भी उन्हें वैसे ही वातावरण ने घेर लिया। इसीलिए उनके कई प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थों में हम उन्हें परवादी के ऊपर करारे शब्द-प्रयोग करते हुए कभी-कभी देखते हैं।[४]

परन्तु हरिभद्र का मूलगत स्वभाव कुछ दूसरे ही प्रकार का था। मानो उनके मूलगत संस्कारों में समत्व एवं मध्यस्थता मुद्रालेख के रूप में ही न हो इस तरह वह संस्कार परापूर्व से चले आनेवाले कदाग्रह और मिथ्याभिनिवेश के चक्र को भेद कर बाहर आया और वह उनकी, कदाचित् पीछे से लिखी गई, उपर्युक्त दो कृतियों में साकार हुआ।

षड्दर्शनसमुच्चय

सर्वप्रथम षड्दर्शनसमुच्चय को लेकर विचार करें। पहला प्रश्न यह होता है कि हरिभद्र के इस ग्रन्थ के जैसी कृतियां पहले किसी की थीं? जहां तक मै जानता हूं वहां तक हरिभद्र से पहले प्रसिद्ध भारतीय विविध दर्शनों का प्रतिपादनात्मक दृष्टि से निरूपण करने वाली किसी की कृति हो तो वह सिद्धसेन दिवाकर की है, ऐसा कहा जा सकता है। दिवाकर ने उनकी उपलब्ध कृतियों में से कई कृतियाँ उस-उस दर्शन का मात्र निरूपण करने के लिए रची हैं। यह सच है कि वे कृतियाँ पाठकी भ्रष्टता एवं व्याख्या के अभाव इत्यादि कारणों से इस समय बहुत स्पष्ट अर्थ प्रकट नही करतीं, फिर भी उन कृतियों के पीछे दिवाकर की दृष्टि तो मुख्य रूप से उस-उस दर्शन के स्वरूप का निरूपण करने की है, नही कि उनके मन्तव्यों का खण्डन करने की। अतः अन्य कोई वैसी पूर्वकालीन कृति उपलब्ध न हो वहां तक ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शनों का प्रतिपादनात्मक दृष्टि से निरूपण करनेवाली सर्व-प्रथम कृति सिद्धसेन दिवाकर की है। उसके बाद हरिभद्र का स्थान आता है।

---

४. डॉ. इन्दुकला ही. झवेरी : 'योगशतक' (हिन्दी) प्रस्तावना पृ. १७-८।

हरिभद्र ने अपनी इस कृति में छः दर्शनों का निरूपण किया है। सिद्धसेन की दार्शनिक कृतियां पद्यबद्ध हैं, तो हरिभद्र की यह कृति भी पद्यबद्ध है। सिद्धसेन की कृतियां अशुद्धि एवं व्याख्या के अभाव के कारण बहुत अस्पष्ट और सन्दिग्ध हैं, जो हरिभद्र की कृति पाठ-शुद्धि और विशद व्याख्या के कारण एकदम स्पष्ट और निश्चितार्थक है। यद्यपि सिद्धसेन की कृतियां उस-उस दर्शन के कतिपय प्रमेयों की चर्चा करती हैं, परन्तु सिद्धसेन कभी-कभी वीरस्तुति आदि में स्वमान्यता का स्थापन करते समय इतर मन्तव्यों की विनोदप्रधान समालोचना करते हैं, और विवादरत स्व-पर सभी दार्शनिकों के ऊपर विनोदमूलक तार्किक कटाक्ष भी करते हैं,[५] जबकि हरिभद्र तो बिलकुल सीधे-सादे ढंग से दर्शनों का निरूपण करते हैं। इन दोनों की कृतियों में दूसरा भेद यह है कि सिद्धसेन ने तो उस-उस दर्शन के मात्र तत्त्वों का ही निरूपण किया है और उन दर्शनों के मान्य देवता आदि की खास बात नहीं कही, जबकि हरिभद्र प्रत्येक दर्शन के निरूपण के समय उस-उस दर्शन के मान्य देवता का भी सूचन करते हैं।

हरिभद्र के पश्चात् उनके षड्दर्शनसमुच्चय का स्मरण कराने वाली लगभग पांच कृतियों का यहां उल्लेख करना चाहिये। उनमें से एक अज्ञातकर्तृक 'सर्वसिद्धान्त

---

५. वदन्ति यानेव गुणान्धचेतसः समेत्य दोषान् किल स्वविद्विषः ।
त एव विज्ञानपथागताः सता त्वदीयसूक्तप्रतिपत्तिहेतवः ॥ ६ ॥
कृपां वहन्तः कृपणेषु जन्तुषु स्वमांसदानेष्वपि मुक्तचेतसः ।
त्वदीयमप्राप्य कृपार्थकौशलं स्वतः कृपां संजनयन्त्यमेधसः ॥ ७ ॥
समृद्धपत्रा अपि सच्छिखंडिनो यथा न गच्छन्ति गतं गरुत्मतः ।
सुनिश्चितज्ञेयविनिश्चयास्तथा न ते गतं यातुमलं प्रवादिनः ॥१२॥
—वीरस्तुतिद्वात्रिंशिका-१.

ग्रामान्तरोपगतयोरेकामिषसंगजातमत्सरयोः ।
स्यात् सौख्यमपि शुनोर्भ्रात्रोरविवादिनोर्न स्यात् ॥१॥
तावद् बकमुग्धमुखस्तिष्ठति यावन्न रंगमवतरति ।
रंगावतारमत्तः काकोद्धतनिष्ठुरो भवति ॥३॥
अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः ।
वाक्संरम्भः क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥ ७ ॥
—वादद्वात्रिंशिका

दैवखातं च वदनं आत्मायत्तं च वाङ्मयम् ।
श्रोतारः सन्ति चोक्तस्य निर्लज्जः को न पण्डितः ।
—न्यायद्वात्रिंशिका

विशेष के लिए देखो 'दर्शन अने चिन्तन' पृ. ११४४ से ।

प्रवेशक' है; दूसरी 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' है, जिसके प्रणेता शंकराचार्य कहे जाते हैं, परन्तु वह आद्य शंकराचार्य की कृति नहीं है ऐसा निश्चित मालूम होता है; तीसरी कृति 'सर्वदर्शनसंग्रह' है, जो माधवाचार्यकृत है और बहुत सुविदित है; चौथी कृति जैनाचार्य राजशेखर की है और उसका नाम भी 'षड्दर्शनसमुच्चय' (प्रकाशक : श्री यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, नं० १७, बनारस) ही है; और पांचवीं कृति है माधव-सरस्वतीकृत 'सर्वदर्शनकौमुदी'। इनमें से केवल सर्वदर्शनसंग्रह के ऊपर ही आधुनिक व्याख्या है और वह बहुत विशद भी है; दूसरे ग्रन्थों के ऊपर कोई टीका अथवा टीकाएँ हों तो वह ज्ञात नहीं।

हरिभद्र के पहले भी समुच्चयान्त कृतियों की रचना शुरू हो गई थी और समुच्चय के अर्थवाला 'संग्रह' पद जिसके अन्त में हो ऐसी भी कृतियां रची जाती थीं। दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय, असंग का अभिधर्मसमुच्चय और शान्तिदेव के सूत्रसमुच्चय तथा शिक्षासमुच्चय जैसे ग्रन्थ समुच्चयान्त कृतियों के उदाहरण हैं; तो प्रशस्तपादका पदार्थसंग्रह, नागार्जुन का धर्मसंग्रह इत्यादि ग्रन्थ संग्रहान्त कृतियों के निदर्शन है।

सर्वसिद्धान्तप्रवेशक के कर्ता का नाम यद्यपि अज्ञात है, फिर भी वह जैन कृति है इसमें तो सन्देह नहीं है, क्योंकि उसके मंगलाचरण में ही 'सर्वभावप्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरम्' ऐसा कहा है। विषय एवं प्रतिपादकशैली की दृष्टि से यह कृति हरिभद्रसूरि के षड्दर्शनसमुच्चय का अनुसरण करती है; अन्तर केवल इतना ही है कि हरिभद्रसूरि का ग्रन्थ पद्य में और संक्षिप्त है, जबकि यह कृति गद्य में और तनिक विस्तृत है।

यद्यपि कालक्रम से विचार करने पर उपर्युक्त पांचों कृतियों में राजशेखर का 'षड्दर्शनसमुच्चय, बाद का है, परन्तु उसकी रचना एक जैनाचार्य ने की है और वह भी हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय के आधार पर; अतः सर्वप्रथम इन दो कृतियों की तुलना करके हम देखेंगे कि राजशेखर की अपेक्षा हरिभद्र का दृष्टिबिन्दु कितना उदात्त है। हरिभद्र की कृति केवल ८७ पद्यों में पूर्ण होती है, जबकि राजशेखर की रचनामे १८० पद्य है। हरिभद्र ने जिन छः दर्शनों का निरूपण किया है, उन्हीं का निरूपण राजशेखर ने भी किया है। हरिभद्रने दर्शनों का निरूपण उस-उस दर्शन को मान्य देव एवं प्रमाण-प्रमेय रूप तत्त्वों को लेकर किया है, जबकि राजशेखर ने देव एवं तत्त्व के अतिरिक्त लिंग, वेष, आचार, गुरु, ग्रन्थ और मुक्ति को लेकर भी दर्शनों के भेद का वर्णन किया है। हरिभद्र के संक्षिप्त ग्रन्थ में उस-उस दर्शन का जानने

योग्य ब्योरा विशेष उपलब्ध नहीं होता, परन्तु राजशेखर ने कुछ तो अवलोकन से और कुछ श्रवणपरम्परा से रसप्रद तथा संशोधक और ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी हो सके ऐसी खास-खास ज्ञातव्य बातों का भी सन्निवेश किया है। राजशेखर ने जिन बातों का उल्लेख किया है वे आज यद्यपि विशेष परीक्षण की अपेक्षा रखती हैं, फिर भी उनमें बहुत सत्यांश भासित होता है। ये बातें जिज्ञासा-प्रेरक होने से गुणरत्न ने उनका उपयोग हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की विशद व्याख्या में किया है; गुणरत्न ने यत्र-तत्र उनमें कुछ सुधार और दूसरी बातों का भी समावेश किया है। जो जो बातें राजशेखर ने और अधिक जोड़ी हैं वे उस-उस दर्शन के लिंग, वेष, आचार, गुरु और ग्रन्थ आदि के बारे में हैं। इस दृष्टि से विचार करें तो ऐसा कहना चाहिए कि हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की अपेक्षा राजशेखर का समुच्चय विशेष उपादेय है। हरिभद्र जैन हैं, तो राजशेखर भी जैन ही हैं। साधु-पदधारी होते हुए भी दोनों साम्प्रदायिक खण्डन-मण्डन के संस्कार तो रखते ही हैं। फिर भी, दूसरी तरह से विचार करे तो, हरिभद्र का छोटा भी ग्रन्थ राजशेखर के विस्तृत ग्रन्थ की अपेक्षा विशेष अर्थपूर्ण लगता है। वह अर्थ यानी कर्ताकी उदात्त दृष्टि। भारतीय दार्शनिकोंमें हरिभद्र ही एक ऐसे हैं, जिन्होंने अपने ग्रन्थकी रचना केवल उन-उन दर्शनों के मान्य देव और तत्त्व को यथार्थ रूपमें निरूपित करने की प्रतिपादनात्मक दृष्टि से की है, नहीं कि किसी का खण्डन करने की दृष्टि से; जबकि उन्हीं के अनुगामी राजशेखर वैसी उदात्तता नहीं दिखला सके हैं। चार्वाक कोई दर्शन नहीं है—ऐसा विधान तो राजशेखर करते ही हैं,[६] परन्तु साथ ही अन्त में चार्वाक दर्शन का पूर्वप्रचलित ढंग से खण्डन भी करते हैं।[७] राजशेखर हरिभद्र के ग्रन्थ का अनुसरण करें और फिर भी हरिभद्र से अलग पड़कर चर्वाक को दर्शन कोटि से बाहर रखें तथा दूसरे किसी दर्शन का नहीं और केवल चार्वाकका ही प्रतिवाद करें, तब वह प्रतिवाद, परम्परागत होने पर भी, लेखक की दृष्टि की तटस्थता में कुछ कमी सूचित करता है।

हरिभद्र प्रारम्भ में ही छः दर्शनों का निरूपण करने की प्रतिज्ञा करते हैं। प्रारम्भ के छः दर्शनों के नामोल्लेख में चार्वाकका निर्देश नहीं है; परन्तु इन छहों का निरूपण करने के उपरान्त वह कहते हैं कि न्याय एवं वैशेषिक ये दो दर्शन भिन्न नहीं हैं ऐसा मानने वाले की दृष्टि से तो आस्तिक-दर्शन पाँच ही हुए, अतः की गई प्रतिज्ञा के अनुसार छठे दर्शन का निरूपण आवश्यक है, तो यह निरूपण चार्वाकको

६. 'नास्तिकं तु न दर्शनम्' श्लोक ४।

७. देखो श्लोक ६५ से ७५।

भी एक दर्शन के रूप में मान्य रखकर पूर्ण करना चाहिए।[८] ऐसा कहकर वे चार्वाक के प्रति समभाव प्रदर्शित करते हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि सर्वसिद्धान्तप्रवेशक के कर्ता ने दर्शनों की छः की संख्या की पूर्ति के प्रश्न की चर्चा किये बिना ही अन्त में चार्वाक दर्शन का निरूपण किया है। इस प्रकार उनके मतानुसार सात दर्शन होते हैं।

हरिभद्र के पहले ही शताब्दियों से चार्वाक मत के प्रति भारतीय आत्मवादी दर्शनों की अवज्ञापूर्ण दृष्टि रही है। ऐसा मालूम होता है कि हरिभद्र में यह अवगणना न रही। उन्होंने अपनी मूल प्रकृति के अनुसार सोचा होगा कि जीवन और जगत् को देखने और विचारने की विविध उच्चावच कक्षाएँ हैं। उनमें चार्वाक मत को भी स्थान है। जो मात्र वर्तमान जीवन को सम्मुख रखकर दृश्यमान लोक की ही मुख्यतया विचारणा करते हैं वे सिर्फ इसी कारण अवगणना के पात्र हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसीसे उन्होंने वैसे मत को भी दर्शन-कोटि में स्थान देकर अपनी दृष्टि की उदात्तता सूचित की है।

सामान्यतः प्रत्येक ग्रन्थकार करता है वैसे ही सर्वसिद्धान्तसंग्रह एवं सर्वदर्शनसंग्रह के रचयिता अपने अभिप्रेत इष्टदेव का ही स्तवन-मंगल आरम्भ में करते हैं। इसी प्रणालिका के अनुसार हरिभद्र ने, सर्वसिद्धान्तप्रवेशक के कर्ता ने तथा राजशेखर ने भी अपने अभिप्रेत देव 'जिन' का प्रारम्भ में वन्दन किया है। इसके पश्चात् प्रत्येक ने अनुक्रम से दर्शनों का निरूपण किया है, किन्तु इस निरूपण का क्रम पाँचों ग्रन्थों में एक-सा नहीं है। सर्वसिद्धान्तसंग्रहकार सर्वप्रथम वैदिक विद्याओं और उनमें समाविष्ट होने वाले वैदिक दर्शनों का स्पष्ट वर्णन करते हैं, जो कि महिमन्-स्तोत्र के सातवें श्लोक की व्याख्या में प्रस्थान-भेद के रूप में मधुसूदन सरस्वतीकृत वर्णन की पद्यबद्ध छायामात्र है। उस वर्णन का मुख्य स्वर यह है कि वैदिक दर्शन ही आस्तिक हैं और उन्हें चाहे जिस तरह वेदबाह्य चार्वाक, जैन और बौद्ध मतों का निरास करना ही चाहिए। मधुसूदन सरस्वती ने भी प्रस्थान-भेद में यही बात शब्दान्तर से कही है। वह कहते हैं कि विश्वव्यापी परम-तत्त्व का दर्शन अनेक तरह

---

८. नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह ।
न मन्यन्ते मते तेषां पंचैवास्तिकवादिनः ॥ ७८ ॥
षड्दर्शनसंख्या तु पूर्यते तन्मते किल ।
लोकायतमतक्षेपे कथ्यते तेन तन्मतम् ॥ ७९ ॥
—हरिभद्रीय षड्दर्शनसमुच्चय

से होता है। इन अनेकविध दर्शनों में से कोई परम पुरुषार्थ में साक्षात् उपयोगी है, तो दूसरे परम्परा से। परन्तु अन्ततोगत्वा साक्षात् एवं परम्परा से परम-पुरुषार्थ में उपयोगी होने की शक्यता तो वैदिक दर्शनों में ही है, और अवैदिक दर्शन तो म्लेच्छ या बाह्य-जैसे होने के कारण सर्वथा वर्जनीय और निराकरण-योग्य हैं।[९] इसी प्रकार सर्वसिद्धान्तसंग्रह का भी प्रारम्भ अवैदिक दर्शनों के निरूपण और उनके खण्डन से होता है। आगे आकर जब उसके कर्ता वैशेषिक, नैयायिक और भाट्ट दर्शन का निरूपण करते हैं, तब भी वह एक ही बात कहते है कि वैशेषिकों ने,[१०] नैयायिकों ने[११] तथा भाट्टों ने[१२] वेद-प्रामाण्य का स्थापन किया है और वेदविरोधी दर्शनों का निराकरण किया है—मानो सर्वसिद्धान्तसंग्रहकार के मत से वैशेषिक, न्याय और कौमारिल दर्शन की यही खास विशेषता हो। इसके बाद सर्वसिद्धान्तसंग्रहकार इतर वैदिक दर्शनों का निरूपण करते हैं। इस ग्रन्थ में दो विशेषताएँ ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व की लगती हैं: (१) ग्रन्थकार कहते हैं कि भारत में (महाभारत में) व्यासकथित जो वेद का सार है उसे वैदिक ब्राह्मणों को सर्वशास्त्राविरोधिरूप से सांख्य-पक्ष में से निकालना चाहिए।[१३] इसके अतिरिक्त वह कहते हैं कि श्रुति, स्मृति, इतिहास और भारत आदि पुराणों में तथा शैवागमों में सांख्यमत स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।[१४] सर्वसिद्धान्तसंग्रहकार का यह वक्तव्य वास्तविक है।

---

९. "... वेदबाह्यत्वात्तेषां म्लेच्छादिप्रस्थानवत्परम्परयापि पुरुषार्थानुपयोगित्वादुपेक्षणीयत्वमेव। इह च साक्षाद्वा परम्परया वा पुमर्थोपयोगिनां वेदोपकरणानामेव प्रस्थानानां भेदो दर्शितः।"
—प्रस्थानभेद

१०. नास्तिकान् वेदबाह्यांस्तान् बौद्धलोकायतार्हतान्।
निराकरोति वेदार्थवादी वैशेषिकोऽधुना ॥ १ ॥
—सर्वसिद्धान्तसंग्रह, वैशेषिक पक्ष

११. नैयायिकस्य पक्षोऽथ संक्षेपात्प्रतिपाद्यते।
यत्तर्करक्षितो वेदो ग्रस्तः पाषण्डदुर्जनैः ॥ १ ॥
—सर्वसिद्धान्तसंग्रह, नैयायिक पक्ष

१२. बौद्धादिनास्तिकध्वस्तवेदमार्गं पुरा किल।
भट्टाचार्यः कुमारांशः स्थापयामास भूतले ॥ १ ॥
—सर्वसिद्धान्तसंग्रह, भट्टाचार्य पक्ष

१३. सर्वशास्त्राविरोधेन व्यासोक्तो भारते द्विजैः।
गृह्यते सांख्यपक्षाद्धि वेदसारोऽथ वैदिकैः ॥ १ ॥
—सर्वसिद्धान्तसंग्रह, वेदव्यास पक्ष

१४. श्रुतिस्मृतीतिहासेषु पुराणे भारतादिके।
सांख्योक्तं दृश्यते स्पष्टं तथा शैवागमादिषु ॥ ४ ॥
—सर्वसिद्धान्तसंग्रह, सांख्यपक्ष

किसी अन्य तत्त्वज्ञान की अपेक्षा सांख्य तत्त्वज्ञान की कितनी अधिक व्यापकता है यह इससे सूचित होता है; परन्तु जब वह व्यासोक्त दर्शन का निरूपण करते हैं, उस समय भी उनकी दृष्टि तो हरिकी ओर है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थकार वेदान्ती होने पर भी भारत के केन्द्र स्थान में रहे हुए विष्णु या हरिका उपासक है। (२) इसकी दूसरी विशेषता यह है कि सर्वसिद्धान्तसंग्रहकार सभी दर्शनों के अन्त में वेदान्त का निरूपण करते हैं और उसी को सभी दर्शनों में मूर्धन्य मानते हों ऐसा प्रतीत होता है; फिर भी वह महाभारत की भाँति भागवत के भी परम भक्त मालूम होते हैं। इसीसे अन्त में वह कहते हैं कि इस अवधूतमार्ग का उपदेश कृष्ण ने उद्धव को भागवत में दिया है।[१५] सर्वसिद्धान्तसंग्रह की इस सामान्य समालोचना पर से देखा जा सकता है कि इसके लेखक अवैदिक चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शनों को कैसी लाघव दृष्टि से देखते हैं। यदि एक ही विश्वव्यापी परम-तत्त्व को भिन्न-भिन्न भूमिका से देखने वाले न्याय आदि दर्शनों को वह आस्तिक समझते हैं, तो उसी तत्त्व को अपनी भूमिका और संस्कार के अनुसार देखने वाले चार्वाक आदि दर्शनों को वह आस्तिक क्यों नहीं कहते ?—ऐसा प्रश्न किसी भी तटस्थ विचारक को हुए बिना नहीं रह सकता। इसका उत्तर सरल है। वह यह कि सर्व-सिद्धान्तसंग्रहकार हों, या सर्वदर्शनसंग्रहकार हों, या फिर प्रस्थानभेदकार मधुसूदन सरस्वती हों, इन सबके मन में दार्शनिक चिन्तन में वेदरक्षा का स्थान मुख्य है; इसीसे वे सर्वप्रथम यह देखते हैं कि कौन वेद को प्रमाण मानता है और कौन नहीं मानता ?

सर्वदर्शनसंग्रह की शैली सर्वसिद्धान्तसंग्रह की शैली से अवश्य अलग पड़ती है, परन्तु उसमें से एक ऐसी ध्वनि तो निकलती ही है कि अवैदिक दर्शनों का सर्वथा

---

१५. उक्तोऽवधूतमार्गश्च कृष्णेनैवोद्धवं प्रति ॥ ६८ ॥
श्रीभागवतसंज्ञे तु पुराणे दृश्यते हि सः ।
—सर्वसिद्धान्तसंग्रह, वेदान्तपक्ष

'भागवत' स्कन्ध ११, अध्याय ७, श्लोक २४ से अवधूतमार्ग का वर्णन शुरू होता है। उसमें से दो श्लोक नीचे उद्धृत किये जाते हैं :—

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः ॥ २४ ॥
अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम् ।
कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ॥ २५ ॥

इसके अतिरिक्त देखो 'भागवत' स्कन्ध ५, अध्याय १०, श्लोक १६। स्कन्ध ५, अध्याय ५, श्लोक २८ से अवधूत ऋषभ का वर्णन आता है।

निराकरण करना। सर्वदर्शनसंग्रहकार चार्वाक मत का निरसन बौद्ध द्वारा और बौद्ध मत का निरसन जैन मत द्वारा कराते हैं और अन्त में जैन मत का निरसन रामानुज द्वारा कराते हैं। इस प्रकार वह अपने प्रतिपादित सोलह दर्शनों में मूर्धन्य-स्थान पर अद्वैत वेदान्त दर्शन को रखते हैं। हम इस संक्षिप्त वर्णन से इतना तो देख सकते हैं कि जिस प्रकार सर्वसिद्धान्तसंग्रहकार पूर्व-पूर्व के कई दर्शनों का निरास करके अन्त में मात्र वेदान्त को प्रस्थापित करते है,[१६] उसी प्रकार सर्वदर्शन-संग्रहकार भी करते हैं।

सर्वदर्शनकौमुदी के विषयक्रम और शैली उक्त ग्रन्थों की अपेक्षा भिन्न हैं। उसमें तीन अवैदिक और तीन वैदिक इस तरह छः दर्शन गिनाकर बाद में तीन वैदिक दर्शनों की छः संख्या सूचित की है और तीन अवैदिक दर्शनों में बौद्ध, जैन और चार्वाक इन तीन को गिनाया है। इन अवैदिक दर्शनों में से बौद्ध के चार भेद गिनाये हैं। इन भेदों को ध्यान में रखें तो ऐसा मालूम होता है कि अवैदिक दर्शनों की संख्या इसके रचयिता के मनमें छः ही अभिप्रेत है। माधव-सरस्वती सायण-माधवाचार्य की भाँति शांकर अद्वैत के कट्टर अनुयायी हैं। उन्होंने अपने शांकर-विषयक मन्तव्य का तीनों प्रस्थानों के[१७] सार के रूप में वर्णन किया है और उसे एक स्वतंत्र प्रस्थान के रूप में गिनाया है। यद्यपि वह सायण-माधवाचार्य की भाँति पूर्व-पूर्व के दर्शन का उत्तर-उत्तर के दर्शन द्वारा खण्डन करने की शैली नहीं अपनाते, फिर भी उनकी दृष्टि खण्डन की तो है ही।

इससे सर्वथा उल्टा दोनों षड्दर्शनसमुच्चय में है। राजशेखर चार्वाक की परिगणना दर्शन के रूप में नहीं करते, परन्तु दूसरे पाँच या छः दर्शनों को वह हरिभद्र की भाँति आस्तिक ही कहते हैं। हाँ, इतना फर्क अवश्य है कि दोनों जैन होने पर भी हरिभद्र अपने जैन दर्शन को प्रथम स्थान न देकर बौद्ध, न्याय और सांख्य के पश्चात् चौथा स्थान देते हैं। सर्वसिद्धान्तप्रवेशक में भी जैन दर्शन को तीसरा स्थान दिया गया है। उसमें दर्शनों का क्रम इस प्रकार है : नैयायिक, वैशेषिक, जैन, सांख्य, बौद्ध, मीमांसक और चार्वाक। परन्तु राजशेखर जैन दर्शन को प्रथम स्थान देते हैं। राजशेखर ने हरिभद्र के आधार पर ही अपने ग्रन्थ की रचना की है; फिर भी यह

---

१६. देखो 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' में वेदान्तपक्ष, श्लोक २९ से, ५६ से तथा ६६ से।

१७. वार्तिक, विवरण एवं वाचस्पति—ये तीन प्रस्थान माने जाते हैं। इसके विशेष परिचय के लिए देखो 'सर्वदर्शनकौमुदी' पृ. ११३–१४ (त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज क्रमांक १३५)।

क्रम-विपर्यास क्यों किया, ऐसा प्रश्न तो होता ही है। ऐसा मालूम पड़ता है कि राजशेखर अपने पूर्ववर्ती और समकालीन दार्शनिकों की अभिनिवेशपूर्ण वृत्ति से पर नहीं हो सके थे, जब कि हरिभद्र वैसी वृत्ति से पर होकर अपने क्रम की संयोजना करते हैं।[१८] इसीलिए दूसरे ग्रन्थों में बौद्ध, नैयायिक आदि दर्शनों का सयुक्तिक और भारपूर्वक खण्डन करने पर भी जब षड्दर्शनसमुच्चय की रचना करने के लिए वह प्रेरित हुए तब उन्होंने अपनी पूर्वकालीन अभिनिवेशवृत्ति का परित्याग करके क्रम का विचार किया होगा। इससे मानो वह ऐसा सूचित करना चाहते हैं कि जो परदर्शनी और परवादी है वह भी अपनी भूमिका और संस्कार के अनुसार वस्तुतत्त्व का प्रामाणिक निरूपण करता है, तो फिर उसमें पर और स्व-दर्शन के श्रेष्ठत्व-कनिष्ठत्व का प्रश्न ही कहाँ रहता है? हरिभद्र की इस दृष्टि में ही समत्व और तटस्थता के बीज सन्निहित हैं, और उनकी प्रसिद्ध उक्ति—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

की याद दिलाती है।

'आस्तिक' और 'नास्तिक' पद लोक एवं शास्त्र में विख्यात हैं। अब हम इन्हें लेकर हरिभद्र की उदात्त दृष्टि का विचार करें। परलोक, आत्मा, पुनर्जन्म जैसे अदृष्ट तत्त्व न मानने वाले को, काशिका-व्याख्या के अनुसार, पाणिनि ने नास्तिक और माननेवाले को आस्तिक कहा है।[१९] इस प्रकार आस्तिक एवं नास्तिक पदों का अर्थ केवल आध्यात्मिकवाद और बहिरर्थवाद में मर्यादित था; परन्तु कालक्रम से आस्तिकपरम्परा में भी अनेक दर्शन एवं सम्प्रदाय पैदा हुए। एक वर्ग ऐसा था जो समग्र चिन्तन और समस्त व्यवहार को वेद के आसपास संयोजित करता था, तो दूसरा वर्ग इसका सर्वथा विरोधी था। वेद को माने उसे वैदिक यज्ञ आदि कर्मकाण्ड, उसके सूत्रधार पुरोहित ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व जाति को भी अनिवार्यतः

---

१८. अनेकान्तजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय और धर्मसंग्रहणी में इतर दर्शनों का खण्डन हरिभद्रसूरि ने किया है।

१९. 'अस्ति - नास्ति - दिष्टं मतिः'—पाणिनि ४. ४. ६०

न च मतिसत्तामात्रे प्रत्यय इष्यते। कस्तर्हि? परलोकोऽस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिकः। तद्विपरीतो नास्तिकः। —काशिका

विशेष के लिए देखो 'अध्यात्म विचारणा' (हिन्दी) पृ. १०-१। तथा 'दर्शन अने चिन्तन' पृ. ७०१।

मानना पड़ता और इस मान्यताको स्थिर रखने के लिए उसे वेद की भाँति ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व जाति की सर्वोपरिताका स्वीकर करना ही पड़ता। दूसरा वर्ग इस मान्यता से सर्वथा उल्टा ही प्रतिपादन करता। उसके मन किसी भी सत्पुरुषका वचन और आचार वेद और वैदिक कर्म के समान ही प्रतिष्ठित है। उसके मन कोई एक जाति मात्र जन्म के कारण ही श्रेष्ठ और दूसरी कनिष्ठ, ऐसा नहीं है। यह मतभेद जैसे-जैसे उग्र होता गया वैसे-वैसे आस्तिक और नास्तिक की व्याख्या भी नये ढंग से होने लगी। वेदवादियों ने कहा कि जो वेदको न माने वह नास्तिक है,[२०] फिर भले ही वह आत्मा, पुनर्जन्म आदि क्यों न मानता हो। दूसरी ओरसे विरोधीवर्ग ने कहा कि जो हमारे शास्त्र न माने वह मिथ्यादृष्टि या तैर्थिक है। इस प्रकार आस्तिक-नास्तिक पद का अर्थ तात्त्विक मान्यता से हटकर ग्रन्थ और उसके पुरस्कर्ताओं की मान्यता में रूपान्तरित हो गया।

हरिभद्र के समय तक यह अर्थगत रूपान्तर दृढ़मूल हो चुका था, फिर भी हरिभद्र इस साम्प्रदायिक वृत्ति के वशीभूत न हुए; और वेद माने या न माने, जैन-शास्त्र माने या न माने, ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा करे या मानव मात्र की, परन्तु यदि वह आत्मा, पुनर्जन्म आदि को माने तो उसे आस्तिक ही कहना चाहिए—हरिभद्र की यह दृष्टि पाणिनि जितनी प्राचीन तो है ही, परन्तु उत्तरकाल में इस दृष्टि में जो साम्प्रदायिक संकुचितता आई उसके वश हरिभद्र न हुए। उन्होंने कह दिया कि वैदिक या अवैदिक सभी आत्मवादी दर्शन आस्तिक हैं।[२१] इसे हरिभद्र की सम्प्रदायातीत समत्व दृष्टि न कहें तो और क्या कहें?

शास्त्रवार्तासमुच्चय

अब हम हरिभद्र के दूसरे दार्शनिक ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चय को लेकर विचार करें कि उन्होंने इस ग्रन्थ के द्वारा दार्शनिक परम्परा में असाधारण कहा जा सके ऐसा कौनसा दृष्टिबिन्दु दाखिल किया है? इसके लिए यदि हम शास्त्रवार्तासमुच्चय की इतर परम्परा के अनेक दार्शनिक ग्रन्थों के साथ तुलना करें तभी कुछ स्पष्ट विधान किया जा सकता है। हरिभद्र के पहले भी वैदिक, बौद्ध और जैन परम्पराओं में अनेक

---

२०. योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥
—मनुस्मृति २. ११

२१. एवमास्तिकवादानां कृतं संक्षेपकीर्तनम्।
—षड्दर्शनसमुच्चय

धुरन्धर आचार्यों के विस्तीर्ण एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें उस-उस परम्परा के आचार्यों ने इतर परम्पराओं के मन्तव्यों और आचारों की समालोचना गहराई और विस्तार से की है। उन मुख्य-मुख्य सभी ग्रन्थों के साथ तुलना करने का यहाँ अवकाश नहीं है, परन्तु वैसे पूर्ववर्ती ग्रन्थराशि में मुकुट-स्थानीय एक मात्र तत्त्वसंग्रह के साथ शास्त्रवार्तासमुच्चय की तुलना करें तो वह यहाँ पर्याप्त समझा जायगा।

तत्त्वसंग्रह बौद्ध परम्परा का ग्रन्थ है। इसके प्रणेता हैं शान्तरक्षित। यह हरिभद्र के निकट-पूर्वकालीन और शायद वृद्ध-समकालीन हैं। इन्होंने जीवन के अन्तिम तेरह वर्ष तिब्बत में व्यतीत किये और वहाँ बौद्ध परम्पराकी मजबूत नींव डाली।[२२] इसके पहले वह नेपाल में भी रहे थे, परन्तु मुख्य रूप से तो वह नालंदा बौद्ध विश्वविद्यालय के प्रधान आचार्य रहे। उस समय नालंदा जितना विशाल विश्वविद्यालय कहीं भी हो, ऐसा निश्चित प्रमाण ज्ञात नहीं। उसमें केवल बौद्ध परम्पराका ही अध्ययन-अध्यापन नहीं होता था, किन्तु उस समय विद्यमान सभी भारतीय परम्पराओं की विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन होता था। हज़ारों विद्यार्थी, सैकड़ों अध्यापक और महत्तम पुस्तकालय तथा देश-विदेश के जिज्ञासु—ऐसे विद्यासमृद्ध वातावरण में विश्वविद्यालय के प्रधान आचार्यपद पर आसीन शान्तरक्षितका विद्यामय व्यक्तित्व कैसा होगा इसकी कुछ झाँकी उनके तत्त्वसंग्रह नामक ग्रन्थ में से मिल सकती है।

यह ग्रन्थ भोट-भाषा में अनुवादित तो है ही, परन्तु मूल संस्कृत ग्रन्थ मात्र दो जैन भण्डारों में से[२३] मिला है और यह गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज़ में प्रकाशित भी हुआ है। यह विशाल मूल-ग्रन्थ पद्यबद्ध है और इसके पद्यों की संख्या ३६४६ है। इसमें छब्बीस परीक्षाएँ हैं। प्रत्येक परीक्षा में अपने मतसे सम्मत न हो अथवा विरुद्ध हो ऐसे मतान्तरों की समीक्षा की गई है। उनमें जैन और वैदिक जैसी बौद्धेतर परम्पराओं के मन्तव्य की समालोचना तो है ही, परन्तु बौद्ध परम्परा की जिन-जिन निकायों अथवा शाखाओं के साथ शान्तरक्षित सम्मत नहीं होते, प्रायः उन सभी शाखाओं की भी उन्होंने तलस्पर्शी समालोचना की है। शान्तरक्षित वज्रयानी विज्ञानवादी थे। शून्यवाद के साथ उनका कोई खास विरोध नहीं था, परन्तु वैभाषिक और सौत्रान्तिक जैसी शाखाओं के तो वे कट्टर विरोधी थे। दूसरे भी कई

---

२२. 'तत्त्वसंग्रह' की प्रस्तावना पृ. १० से १४।

२३. पाटनके वाडी पार्श्वनाथ के भंडार में से तथा जैसलमेर के भण्डार में से इस ग्रन्थ की पोथियाँ उपलब्ध हुई हैं।

छोटे-बड़े मतभेद रखनेवाले विद्वान् बौद्ध परम्परा में हुए हैं और थे। उनका भी शान्तरक्षितने केवल निर्देश ही नहीं किया, बल्कि उनकी सूक्ष्म समालोचना भी की है।[२४]

शान्तरक्षित की एक खास विशेषता उल्लेखनीय है। वह यह कि उन्हें बौद्ध परम्परा की उनके समय तक अस्तित्व में आई हुई सभी छोटी-बड़ी शाखाओं के ग्रन्थ, ग्रन्थकार और उनकी जीवन-प्रणालिकाओं का प्रत्यक्ष और सजीव तथा गहरा परिचय था। बौद्धेतर किसी भी परम्परा के विद्वान् से वैसे परिचय की अपेक्षा नहीं रखी जा सकती। इससे बौद्ध परम्परा के तत्त्वज्ञान विषयक विकास की प्रामाणिक और सर्वाङ्गीण जानकारी प्रस्तुत करनेवाला कोई आकर-ग्रन्थ लभ्य हो तो वह तत्त्वसंग्रह है।

तत्त्वसंग्रह के ऊपर जो 'पंजिका' नाम की विस्तृत टीका है वह शान्तरक्षित के प्रधानतम शिष्य कमलशील की है। कमलशील भी एक बड़े बौद्ध विद्यापीठ के आचार्यपद पर रहे थे। वह प्रबल बहुश्रुत दार्शनिक होने के साथ ही तांत्रिक भी थे।[२५] कमलशील ने अपने गुरु शान्तरक्षित के मूल ग्रन्थ का जैसा मर्मोद्घाटक विवेचन किया है वह विरल है। शान्तरक्षित ने सुश्लिष्ट एवं प्रसन्न पद्यों में जो कुछ संक्षेप में ग्रथित किया है उस सब का कमलशीलने विशद विवरण तो किया ही है, परन्तु उन्होंने अपनी ओर से भी उस-उस विषय से सम्बद्ध कई बातें जोड़ी हैं; और उसमें ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारों की इतनी सुन्दर पूर्ति की है कि उससे यह तत्त्वसंग्रह अनेक दृष्टि से विशेष अध्येतव्य ग्रन्थ बन गया है।[२६]

हरिभद्र एक जैन आचार्य हैं। जैन परम्परा के अनुसार वह न किसी एक स्थान पर स्थिरवास ही कर सकते थे और न छोटे या बड़े किसी भी प्रकार के विद्यापीठ का आचार्यपद ही स्वीकार कर सकते थे। जैन परम्परा में बौद्ध या ब्राह्मण परम्परा की भाँति विद्यापीठ भी नहीं थे; अतः हरिभद्र का जो अध्ययन-अध्यापन या शास्त्रीय परिशीलन था वह मुख्यतया उनके आसपास विचरण करनेवाले तथा साथ में रहनेवाले एक बहुत ही छोटे मुनिमण्डल तक ही सीमित हो सकता था। ऐसा होने

---

२४. वसुमित्र, धर्मत्रात, घोषक, बुद्धदेव ('तत्त्वसंग्रहपंजिका' पृ. ५०४), समन्तभद्र (संघभद्र– 'तत्त्वसंग्रहपंजिका' पृ. ५०६, ५०८), शुभगुप्त ('तत्त्वसंग्रहपंजिका' पृ. १५५ आदि), योगसेन ('तत्त्वसंग्रहपंजिका' पृ. १५३)।

२५. देखो 'तत्त्वसंग्रह' की प्रस्तावना पृ. १६।

२६. देखो 'तत्त्वसंग्रह' भा. २ के अन्त में दिया गया परिशिष्ट पृ. ७१–६७।

पर भी हरिभद्र की जिज्ञासा और विद्याव्यायोगवृत्ति इतनी अधिक उत्कट प्रतीत होती है कि उन्होंने अपनी उस स्थिति में भी उस काल में लभ्य सभी दर्शनिक परम्पराओं का तलस्पर्शी अध्ययन किया। शान्तरक्षित सभी दर्शनों में विशारद होने पर भी जैसे बौद्ध शाखाओं के निकटतम अभ्यासी थे, वैसे ही हरिभद्र भी इतर दर्शनों के सुविद्वान् होने पर भी जैन परम्परा की तत्कालीन सभी शाखाओं के निकटतम अभ्यासी थे। शान्तरक्षित की भाँति हरिभद्र तिब्बत या नेपाल तक नहीं गये, परन्तु जिस प्रदेश में उन्होंने विहार किया उस प्रदेश में रहकर भी नालन्दा आदि बौद्ध विश्वविद्यालयों के महान् ग्रन्थकारों की कृतियों का गहरा पारायण उन्होंने किया था।

शान्तरक्षित के मूल ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह की अपेक्षा शास्त्रवार्तासमुच्चय का क़द बहुत छोटा है—एक पंचमांश से भी कुछ कम। हरिभद्र ने इस ग्रन्थ की व्याख्या स्वयं लिखी है, परन्तु वह भी बहुत ही संक्षिप्त है। तत्त्वसंग्रह के जैसी ही मत-मतान्तरों की समीक्षा शास्त्रवार्तासमुच्चय में है, परन्तु वह भी तत्त्वसंग्रह की अपेक्षा संक्षिप्त है। कमलशील ने तत्त्वसंग्रह पर जैसी विशद और विस्तृत व्याख्या लिखी है वैसी तो हरिभद्र की व्याख्या नहीं है, परन्तु हरिभद्र से नौ सो वर्ष पश्चात् होनेवाले वाचक यशोविजयजी ने शास्त्रवार्तासमुच्चय का महत्त्व देखकर उस पर एक विस्तृत व्याख्या लिखी है। निस्सन्देह यह व्याख्या सत्रहवीं शताब्दी तक के समय में हुए भारतीय दार्शनिक चिन्तनधाराओं के विकास का निदर्शन है, फिर भी यह व्याख्या उस काल में प्रतिष्ठित नव्य-न्याय की गंगेश-शैली में लिखी गई है, अतः यह विशिष्ट जिज्ञासु के लिए भी सुगम नहीं है, जब कि कमलशील की व्याख्या बहुत सुगम है।

इस तरह देखने पर ऐसा कहा जा सकता है कि शास्त्रवार्तासमुच्चयको तत्त्व-संग्रह की समान कक्षा पर नही रखा जा सकता। स्वयं हरिभद्र ही शास्त्रवार्तासमुच्चय में तत्त्वसंग्रह के प्रणेता शान्तरक्षित को 'सूक्ष्मबुद्धि'[२७] कहकर उनकी योग्यता का पूरा बहुमान करते हैं, परन्तु तुलना में एक दूसरी दृष्टि भी विचारणीय है और वही दृष्टि यहां प्रस्तुत है।

सामान्य रूप से दार्शनिक परम्परा के सभी बड़े-बड़े विद्वान् अपने से भिन्न परम्परा के प्रति पहले से लाघवबुद्धि और कभी-कभी अवगणनावृत्ति भी सेते आये हैं। अपने से भिन्न धर्म या दर्शन परम्परा के प्रति अथवा उसके पुरस्कर्ता एवं आचार्यों के प्रति गुणग्राही दृष्टि से आदरसूचक-वृत्ति दार्शनिक कुरुक्षेत्र में दृष्टिगोचर नहीं होती;

---

२७. देखो 'एतेनैतत्प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं सूक्ष्मबुद्धिना' — शास्त्रवार्तासमुच्चय; श्लोक २९६ तथा उस पर की स्वोपज्ञ वृत्ति।

इतना ही नहीं, प्रतिवादी के मन्तव्यों को किसी भी तरह से दूषित करने का एक ही ध्येय इस क्षेत्र में अपनाया गया हो ऐसा लगता है। प्रतिपक्षी दार्शनिक की दृष्टि में कुछ भी सत्य है या नहीं, यह खोजने की और ज्ञात हो तो उसे स्वीकारने की तटस्थ वृत्ति कोई दिखलाता हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। शान्तरक्षित जैसे बहुश्रुत आचार्य और भिक्षु-पद पर प्रतिष्ठित एवं आध्यात्मिक पथ के पथिक ने भी अपने ग्रन्थ में जिन-जिन परपक्षों की सूक्ष्म और विस्तृत समालोचना की है उसमें कहीं भी उन्होंने उन परपक्षों के खण्डन के सिवाय दूसरा दृष्टिबिन्दु उपस्थित किया ही नहीं है। वह चाहते तो परपक्ष का प्रतिवाद करने पर भी उसमें से कुछ सत्यांश खोज सकते थे, परन्तु उनका उद्देश्य ही एक मात्र प्रतिपक्षी दर्शन के निराकरण का ज्ञात होता है। हरिभद्र, शान्तरक्षित की भांति, उन्हें सम्मत न हो वैसे मतों की अपने ढंग से समालोचना तो करते हैं, परन्तु उस समालोचना में उस-उस मत के मुख्य पुरस्कर्ताओं अथवा आचार्यों को वह तनिक भी लाघव अथवा अवगणना की दृष्टि से नहीं देखते; उल्टा, वह स्वदर्शन के पुरस्कर्ताओं अथवा आचार्यों को जिस बहुमान से देखते हैं उसी बहुमान से उन्हें भी देखते हैं। हरिभद्र ने प्रतिपक्षी के प्रति जैसी हार्दिक बहुमानवृत्ति प्रदर्शित की है वैसी दार्शनिक क्षेत्र में दूसरे किसी विद्वान् ने, कम से कम उनके समय तक तो, प्रदर्शित नहीं की है। इससे मेरी राय में यह उनकी एक विरल सिद्धि कही जा सकती है।

जब कोई विद्वान् स्वयं ही अपने खण्डनीय प्रतिपक्ष के पुरस्कर्ताका बहुमान-पूर्वक उल्लेख करे, तब समझना चाहिए कि उसकी आन्तरिक भूमिका गुणग्राही और तटस्थतापूर्ण है। इसी भूमिका का नाम समत्व अथवा निष्पक्षता है। जब मानसिक भूमिका ऐसी हो, तब विद्वान् समालोचक प्रतिपक्ष का निराकरण करने पर भी उसके मत में रहे हुए सत्यांश की शोध करने का प्रयत्न किये बिना रह नहीं सकता, और वैसे प्रयत्न से कुछ ग्राह्य प्रतीत हो तो उसे वह अपने ढंग से उपस्थित किये बिना भी रह नहीं सकता। हरिभद्र के ग्रन्थों में इसके उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यहाँ वैसे कुछ उदाहरणों को उद्धृत करके हम देखेंगे कि हरिभद्र ने प्रतिपक्ष के मन्तव्यकी समालोचना करते समय उसमें से उन्हें ग्राह्य प्रतीत हो वैसे कौन-कौन से मुद्दे लिये हैं और अपने मन्तव्य के साथ किस प्रकार उनकी तुलना की है—

१. हरिभद्र ने भूतवादी चार्वाक की समीक्षा करके उसके भूत-स्वभाववाद का निरसन किया है और परलोक एवं सुख-दुःख के वैषम्यका स्पष्टीकरण करने के लिए कर्मवाद की स्थापना की है। इसी प्रकार चित्तशक्ति या चित्त वासना को कर्म मानने वाले मीमांसक और बौद्ध मत का निराकरण करके जैन दृष्टि से कर्म का स्वरूप क्या

है, यह सूचित किया है। इस चर्चा में उन्हें ऐसा लगा कि जैन परम्परा कर्म का उभयविध स्वरूप मानती है। चेतन पर पड़नेवाले भौतिक परिस्थिति के प्रभाव को और भौतिक परिस्थिति पर पड़नेवाले चेतन-संस्कार के प्रभाव को मानने के कारण वह सूक्ष्म भौतिक दल को द्रव्य कर्म और जीवगत संस्कार-विशेषको भाव कर्म कहती है। हरिभद्र ने देखा कि जैन परम्परा बाह्य भौतिक तत्त्व तथा आन्तरिक चेतन शक्ति इन दोनों के परस्पर प्रभाववाले संयोग को मानकर उसके आधार पर कर्मवाद और पुनर्जन्म का चक्र घटाती है, तो आखिरकार चार्वाक मत अपने ढंगसे भौतिक द्रव्य का स्वभाव मानता है और मीमांसक एवं बौद्ध अभौतिक तत्त्व का वैसा स्वभाव स्वीकार करते हैं। अतएव हरिभद्र ने इन दोनों पक्षों में रहे हुए एक-एक पहलू को परस्पर के पूरक के रूप में सत्य मानकर कह दिया कि जैन कर्मवाद में चार्वाक[२८] और मीमांसक या बौद्ध मन्तव्यों का समन्वय हुआ है।[२९] इस प्रकार उन्होंने कर्मवाद की चर्चा में तुलना का दृष्टिबिन्दु उपस्थित किया है।

२. न्याय-वैशेषिक आदि सम्मत जगत्कर्तृत्ववाद का प्रतिवाद शान्तरक्षित की भाँति हरिभद्र ने भी किया है, परन्तु शान्तरक्षित और हरिभद्र की दृष्टि में उल्लेखनीय अन्तर है। शान्तरक्षित केवल परवाद का खण्डन करके परितोष पाते हैं, जब कि हरिभद्र इस असम्मतवाद की अपनी मान्यता के अनुसार समीक्षा करने पर भी सोचते हैं कि क्या इस ईश्वरकर्तृत्ववाद के पीछे कोई मनोवैज्ञानिक रहस्य तो छुपा हुआ नहीं है? इस समभावमूलक विचारणा में से ही उन्हें जो रहस्य स्फुरित हुआ उसे वे तुलनात्मक दृष्टि से उपस्थित करते हैं।

उन्हें मानव-स्वभाव के निरीक्षण पर से ऐसा ज्ञात हुआ होगा कि सामान्य कक्षा के मानवमात्र में अपनी अपेक्षा शक्ति एवं सद्गुण में सविशेष समुन्नत किसी महामानव या महापुरुष के प्रति भक्तिप्रणत होने का और उसकी शरण में जाने का भाव स्वाभाविक रूप से होता है। इस भाव से प्रेरित होकर वह वैसे किसी समर्थ व्यक्ति की कल्पना करता है। वैसी कल्पना स्वभावतः एक स्वतंत्र और जगत् के

---

२८. कर्मणो भौतिकत्वेन यद्वैतदपि साम्प्रतम्।
आत्मनो व्यतिरिक्तं तत् चित्रभावं यतो मतम् ॥ ९५ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

२९. शक्तिरूपं तदन्ये तु सूरयः सम्प्रचक्षते।
अन्ये तु वासनारूपं विचित्रफलदं मतम् ॥ ९६ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

कर्त्ता-धर्त्ता ईश्वर की मान्यता में परिणत होती है और मनुष्य उसे आदर्श मानकर जीवन व्यतीत करता है। हरिभद्र ने सोचा कि मानव-मानस की यह भक्ति या शरणागति की तीव्र उत्कण्ठा असल में तो कोई बुरी वस्तु नहीं है। अतः वैसी उत्कट उत्कण्ठाको कोई ठेस न लगे और उसका तर्क एवं बुद्धिवाद के साथ बराबर मेल जम जाय इस तरह ईश्वर-कर्तृत्ववाद का तात्पर्य उन्होंने अपनी सूझसे बतलाया। उन्होंने कहा कि जो पुरुष अपने जीवन को निर्दोष बनाने के प्रयत्नके परिणामस्वरूप उच्चतम भूमिका पर पहुँचा हो वही साधारण आत्माओं में परम अर्थात् असाधारण आत्मा है और वही सर्वगम्य एवं अनुभवसिद्ध ईश्वर है। जीवन जीनेमें आदर्शरूप होनेसे वही कर्त्ता के रूप में भक्ति-पात्र एवं उपास्य हो सकता है।

हरिभद्र, मानो मानव-मानस की गहनता नापते हों इस तरह, कहते हैं कि लोग जिन शास्त्रों एवं विधि-निषेधोंके प्रति आदरभाव रखते हों वे शास्त्र और वे विधि-निषेध उनके मन यदि ईश्वरप्रणीत हों, तो वे सन्तुष्ट हो सकते हैं और वैसी वृत्ति मिथ्या भी नहीं है। अतः इस वृत्ति का पोषण होता रहे तथा तर्क एवं बौद्धिक समीक्षाकी कसौटी पर सत्य साबित हो ऐसा सार निकालना चाहिये। यह सार, जैसा ऊपर सूचित किया है, स्वप्रयत्न से विशुद्धि के शिखर पर पहुँचे हुए व्यक्ति को आदर्श मानकर उसके उपदेशों में कर्तृत्व की भावना रखना। हरिभद्र की कर्तृत्व-विषयक तुलना इससे भी आगे जाती है। वह कहते हैं कि जीवमात्र तात्त्विक दृष्टि से शुद्ध होने के कारण परमात्मा या परमात्मा का अंश है और वह अपने अच्छे-बुरे भावी का कर्त्ता भी है। इस दृष्टि से देखें तो जीव ईश्वर है और वही कर्ता है। इस तरह कर्तृत्ववाद की सर्वसाधारण उत्कण्ठा को उन्होंने तुलना द्वारा विधायक रूप दिया है।[३०]

---

३०. ततश्चेश्वरकर्तृत्ववादोऽयं युज्यते परम् ।
सम्यग्न्यायाविरोधेन यथाऽऽहुः शुद्धबुद्धयः ॥ २०३ ॥
ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात् ।
यतो मुक्तिस्ततस्तस्याः कर्ता स्याद्गुणभावतः ॥ २०४ ॥
तदनासेवनादेव यत्संसारोऽपि तत्त्वतः ।
तेन तस्यापि कर्तृत्वं कल्प्यमानं न दुष्यति ॥ २०५ ॥
कर्ताऽयमिति तद्वाक्ये यतः केषांचिदादरः ।
अतस्तदानुगुण्येन तस्य कर्तृत्वदेशना ॥ २०६ ॥
परमैश्वर्ययुक्तत्वान्मत आत्मैव चेश्वरः ।
स च कर्तेति निर्दोषः कर्तृवादो व्यवस्थितः ॥ २०७ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

३. शान्तरक्षित की भाँति हरिभद्र ने भी सांख्यसम्मत प्रकृति-कारणवाद की पर्यालोचना की है। इस पर्यालोचना में भी दोनों का भूमिका-भेद देखा जाता है। शान्तरक्षित ने प्रकृति-परीक्षा में सांख्यकी दलीलों का क्रमशः निरसन किया है, परन्तु अन्त में वह प्रकृतिवाद में से कोई उपादेय स्वरूप अपनी दृष्टि से नहीं बतलाते; जब कि हरिभद्र बतलाते हैं। प्रकृतिवाद का निरसन करते समय हरिभद्र के समशील मनको मानो ऐसा प्रतीत हुआ कि इस प्रकृतिवाद में भी कुछ रहस्य है, और उसको भी बतलाना चाहिए। ऐसी किसी वृत्ति से उन्होंने कहा कि जैन परम्परा भी अपनी दृष्टि से प्रकृतिवाद मानती है। वह दृष्टि अर्थात् कर्मतत्त्व को सुख-दुःख के वैषम्य का मूल कारण मानना। जैन परम्परा में कर्मवाद का प्राधान्य है और उसके प्राचीन शास्त्रों में 'कर्मप्रकृति' नाम का एक खास विभाग है, जिसमें कर्मतत्त्व की बहुमुखी और सूक्ष्म विचारणा आती है। 'कर्म' शब्द के साथ संकलित 'प्रकृति' शब्द परापूर्व से कर्मप्रकृति के रूप में प्रख्यात है। शास्त्र के उस विभाग तथा उसमें प्रतिपादित कर्मप्रकृति-तत्त्व इन दोनों का मानो हरिभद्र को स्मरण ही आया न हो और उसी में से तुलना का दृष्टिबिन्दु ध्यान में आने पर उन्होंने प्रकृतिवाद का अर्थ[३१] अपने ढँग से फलित किया न हो, ऐसा जान पड़ता है।

परन्तु हरिभद्र की तुलना एवं समत्व-दृष्टि केवल शब्दों के अनेक अर्थों में ही परिसमाप्त नहीं होती। उनका यह कथन तो एक भूमिका रूप है। स्वयं उन्होंने जिस सांख्य मत का सयुक्तिक प्रतिवाद किया है, उसी सांख्य मत के आद्य द्रष्टा के रूप में सर्वत्र विश्रुत और बहुमान्य महर्षि कपिल को उद्दिष्ट करके उन्होंने जो कुछ कहा है यह उक्त विशिष्ट भूमिका का ही परिणाम है, जो उनके उच्च आशय की प्रतीति कराता है। हरिभद्र ने कहा है कि मेरी दृष्टि से प्रकृतिवाद भी सत्य है, क्योंकि उसके प्रणेता कपिल दिव्य-लोकोत्तर महामुनि हैं।[३२] साम्प्रदायिक खण्डन-मण्डन के क्षेत्र में किसी विद्वान् ने अपने प्रतिवादी का इतने आदर के साथ निर्देश किया हो तो वह एकमात्र हरिभद्र ही हैं।

४. शान्तरक्षित ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर जैन मन्तव्यों की परीक्षा की है, तो हरिभद्र ने बौद्ध मन्तव्यों की; परन्तु दोनों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। शान्तरक्षितमात्र

---

३१. प्रकृतिं चापि सन्न्यायात्कर्मप्रकृतिमेव हि ।
— शास्त्रवार्तासमुच्चय; श्लोक २३२

३२. एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि ।
कपिलोक्तत्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः ॥ २३७ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

खण्डनपटु हैं, किन्तु हरिभद्र तो विरोधी मत की तर्क-पुरस्सर समीक्षा करने पर भी सम्भव हो वहां कुछ सार निकाल कर उस मत के पुरस्कर्ता के प्रति सम्मानवृत्ति भी प्रदर्शित करते हैं। क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन तीन बौद्ध वादों की समीक्षा करने पर भी हरिभद्र इन वादों के प्रेरक दृष्टिबिन्दुओं को अपेक्षा-विशेष से न्याय्य स्थान देते हैं और स्वसम्प्रदाय के पुरस्कर्ता ऋषभ, महावीर आदि का जिन विशेषणों से वे निर्देश करते हैं वैसे ही विशेषणों से उन्होंने बुद्ध का भी निर्देश किया है और कहा है कि बुद्ध जैसे महामुनि एवं अर्हत् की देशना अर्थहीन नहीं हो सकती।[33] ऐसा कह कर उन्होंने सूचित किया है कि क्षणिकत्व की एकांगी देशना आसक्ति की निवृत्ति के[34] लिए ही हो सकती है; इसी भाँति बाह्य पदार्थों में आसक्त रहने वाले तथा आध्यात्मिक तत्त्व से नितान्त पराङ्मुख अधिकारियों को उद्दिष्ट करके ही बुद्ध ने विज्ञानवाद का उपदेश दिया है[35] तथा शून्यवाद का उपदेश भी उन्होंने जिज्ञासु अधिकारीविशेष को लक्ष्य में रख कर ही दिया है, ऐसा मानना चाहिए।[36] कई विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्ध आचार्यों के सामने इतर बौद्ध विद्वानों की ओर से प्रश्न उपस्थित किया गया कि तुम विज्ञान और शून्यवाद की ही बातें करते हो, परन्तु बौद्ध पिटकों में जिन स्कन्ध, धातु, आयतन आदि बाह्य पदार्थों का उपदेश है उनका क्या मतलब ? इसके उत्तर में स्वयं विज्ञानवादियों और शून्यवादियों ने भी अपने सहबन्धु बौद्ध प्रतिपक्षियों से हरिभद्र के जैसे ही मतलब का कहा है कि बुद्ध की देशना अधिकारभेद से है। जो लौकिक स्थूल भूमिका में होते थे उन्हें वैसे ही और उन्हीं की भाषा में बुद्ध उपदेश देते थे, फिर भले ही उनका अन्तिम तात्पर्य उससे

---

३३. न चैतदपि न न्याय्यं यतो बुद्धो महामुनिः ।
सुवैद्यवद्विना कार्यं द्रव्यासत्यं न भाषते ॥ ४६६ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

३४. अन्ये त्वभिदधत्येवमेतदास्थानिवृत्तये ।
क्षणिकं सर्वमेवेति बुद्धेनोक्तं न तत्त्वतः ॥ ४६४ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

३५. विज्ञानमात्रमप्येवं बाह्यसंगनिवृत्तये ।
विनेयान् कांश्चिदाश्रित्य यद्वा तद्देशनाऽर्हतः ॥ ४६५ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

३६. एवं च शून्यवादोऽपि तद्विनेयानुगुण्यतः ।
अभिप्रायत इत्युक्तो लक्ष्यते तत्त्ववेदिना ॥ ४७६ ॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

भिन्न हो।[३७] प्रारम्भ में ही बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए और शनैः शनैः जिज्ञासुओं को गहराई में ले जाना चाहिए—ऐसी बुद्ध की दृष्टि या नीति थी। जब बौद्ध परम्परा में भी एक-दूसरे के साथ मेल बैठ न सके और कभी आपस में एक न हो सके ऐसे विरोधी वाद खड़े हुए, तब बौद्ध विद्वानों को भी वे वाद भूमिका-भेद से घटाने पड़े। हरिभद्र तो बौद्ध नहीं हैं, और फिर भी उन बौद्ध वादों को अधिकार-भेद से योग्य स्थान देकर वे जब यहां तक कहते हैं कि बुद्ध कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं, वह तो एक महान् मुनि हैं, और ऐसा होने से बुद्ध जब असत्यका आभास कराने वाला वचन कहें, तब वे एक सुवैद्य की भांति खास प्रयोजन के बिना तो वैसा कह ही नहीं

---

३७. आत्मेत्यपि प्रज्ञपितमनात्मेत्यपि देशितम्।
बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्॥ ६॥

···यतश्चैवं हीनमध्योत्कृष्टविनेयजनाशयनानात्वेन आत्मानात्मतदुभयप्रतिषेधेन बुद्धानां भगवतां धर्मदेशना प्रवृत्ता, तस्मान्नास्त्यागमबाधो माध्यमिकानाम्।

अत एवोक्तमार्यदेवपादैः—

वारणं प्रागपुण्यस्य मध्ये वारणमात्मनः।
सर्वस्य वारणं पश्चाद् यो जानीते स बुद्धिमान्॥

—नागार्जुनकृत मध्यमककारिका, आत्मपरीक्षा,
पृ. ३५५ तथा ३५९

सर्वं तथ्यं न वा तथ्यं तथ्यं चातथ्यमेव च।
नैवातथ्यं नैव तथ्यमेतद्बुद्धानुशासनम्॥ ८॥

···तथा च भगवतोक्तं। लोको मया सार्धं विवदति नाहं लोकेन सार्धं विवदामि। यल्लोकेऽस्ति संमतं तन्ममाप्यस्ति संमतम्। यल्लोके नास्ति संमतं ममापि तन्नास्ति संमतमित्यागमाच्च।

इत्यादित एव तावद् भगवता स्वप्रसिद्धपदार्थभेदस्वरूपविभागश्रवणसंजाताभिलाषस्य विनेयजनस्य यदेतत्स्कन्धधात्वायतनादिकमविद्यातैमिरिकैः सत्यतः परिकल्पितमुपलब्ध तदेव तावत्तथ्यमित्युपवर्णितं भगवता तद्दर्शनापेक्षया आत्मनि लोकस्य गौरवोत्पादनार्थम्।

—मध्यमकवृत्ति, आत्मपरीक्षा, पृ. ३६९–७०

देखो 'विग्रहव्यावर्तनी' के निम्नांकित दो श्लोक तथा उनकी व्याख्या :—

कुशलानां धर्माणां धर्मावस्थाविदश्च मन्यन्ते।
कुशलं जनस्वभावं शेषेष्वप्येष विनियोगः॥७॥
कुशलानां धर्माणां धर्मावस्थाविदो ब्रुवते यत्।
कुशलस्वभावं एवं प्रविभागेनाभिधेयः स्यात्॥५३॥

सकते।[38] हरिभद्र की यह महानुभावता, मेरी दृष्टि से, दर्शन-परम्परा में एक विरल प्रदान है।

५. शान्तरक्षित ने औपनिषदिक आत्मा की परीक्षा में ब्रह्माद्वैतवाद का जैसा निरसन किया है, वैसा हरिभद्र ने भी किया है। यद्यपि उन्होंने षड्दर्शनसमुच्चय में मीमांसक दर्शन के प्रस्ताव में ब्रह्मवादी दर्शन का निर्देश तक नहीं किया, फिर भी जब वे शास्त्रवार्तासमुच्चय में उस वाद का निरसन करते हैं, तब ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि वे उस दर्शन से परिचित नहीं थे। षड्दर्शनसमुच्चय की रचना उन्होंने पहले की हो और उस समय वे ब्रह्मवादी दर्शन से परिचित न हों, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि हरिभद्र के समय तक औपनिषद ब्रह्मवाद दूसरे किसी भी दर्शन की अपेक्षा कम प्रसिद्ध नहीं था। शंकराचार्य के पहले भी अनेक आचार्यों के द्वारा औपनिषद दर्शन ने ठीक-ठीक प्रसिद्धि पाई थी; और ऐसा भी नहीं लगता कि षड्दर्शनसमुच्चय की रचना हरिभद्र ने अपनी अप्रौढ़ अवस्था में की हो। इससे अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि हरिभद्र के मन प्रतिपाद्य आस्तिक दर्शनों में जैमिनीय मीमांसाका स्थान प्रधान होगा, क्योंकि उस समय कुमारिल आदि के द्वारा पूर्वमीमांसा की विशेष प्रतिष्ठा जम चुकी थी। इसीलिए हरिभद्र ने मात्र उसी का वर्णन कर के सन्तोष माना हो। अस्तु, जो कुछ हो !

परन्तु यहां पर भी हरिभद्र शान्तरक्षित से अलग पड़ते हैं। हरिभद्र ब्रह्मवाद का निरसन करने के पश्चात् भी उसका अपनी दृष्टि से तात्पर्य बतलाते हैं। हरिभद्र श्रमण-परम्परा के और समदृष्टि के पुरस्कर्ता हैं। उन्होंने सोचा होगा कि भेद-प्रधान सृष्टि के मूल में अधिष्ठान या कारण के रूप में एकमात्र अखण्ड ब्रह्मतत्त्व है ऐसी अद्वैतवादियों की मान्यता विशेषनिरपेक्ष सामान्यदृष्टि से तो सच्ची है, परन्तु सृष्टि में अनुभूयमान भेद और उसमें से निष्पन्न जीवनगत वैषम्य का स्पष्टीकरण क्या हो सकता है ? इस विचार में से उन्हें ब्रह्माद्वैत का समभाव के साथ मेल बिठाने की सूझ प्रकट हुई होगी। वे कहते हैं कि शास्त्रों में जो अद्वैत-देशना है, वह जीवन की साधना में वैषम्य का निवारण कर के समभाव की स्थापना करती है।[39] यदि

---

३८. देखो पादटिप्पणी ३३ में उद्धृत श्लोक।

३९. अन्ये व्याख्यानयन्त्येवं समभावप्रसिद्धये।
अद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्त्वतः ॥५५०॥
—शास्त्रवार्तासमुच्चय

ब्रह्माद्वैत की भावना द्वारा जीवन में समता साधने का उद्देश्य न हो तो वह ब्रह्माद्वैत मात्र वाद तक ही रह जाय और योग द्वारा संक्लेश का निवारण कर के विशुद्धि सिद्ध करने की जो बात अध्यात्मशास्त्रों में आती है वह तथा बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था कभी घट ही नहीं सके। ऐसे विचार से उन्होंने ब्रह्माद्वैतवाद का निरसन करने पर भी उसका तात्पर्य समता की सिद्धि में सूचित करके ब्राह्मण और श्रमण परम्परा के बीच सुदीर्घ काल से चले आने वाले अन्तर को दूर करने का, दूसरे किसी की अपेक्षा विशेष सारग्राही, प्रयत्न किया है।

व्याख्यान चौथा

योगपरम्परामें आचार्य हरिभद्रकी विशेषता–१

आचार्य हरिभद्र योगसाहित्य और उसकी परम्परामें कौन-कौनसी और कितनी विशेषता लाये हैं इसका कुछ ख्याल आ सके इस दृष्टि से यह देखना आवश्यक है कि प्राचीन समय से यह परम्परा किस-किस तरह विकसित होती रही है और उसके साहित्य का किस रूप में निर्माण हुआ है।

ईसा के पूर्व लगभग आठवीं शती से लेकर उत्तरवर्ती समय का ख्याल अधिक अच्छी तरह से दे सके ऐसा साहित्य तो उपलब्ध है ही। उसके पहले के समय को लेकर योगका विचार जानना हो तो कुछ अंश में पुरातत्त्वीय अवशेष और कुछ अंश में लोक-जीवन में जिनकी गहरी जड़ें जमी हैं वैसी प्रथाओं तथा पौराणिक वर्णनों का आधार लेना अनिवार्य है। अतिप्राचीन काल में 'योग' शब्द की अपेक्षा 'तप' शब्द बहुत ही प्रचलित था। ऐसा लगता है कि मानव-जीवन के साथ तप की महिमा किसी-न-किसी रूप में संकलित रही है। इसीलिए हम देखते हैं कि कोई ऐसी प्राचीन, मध्ययुगीन अथवा अर्वाचीन धर्मसंस्था विश्व में नहीं है कि जिसमें एक या दूसरे रूप में तप का आदर न होता हो। सिन्धु-संस्कृति के अवशेषों में जो नग्न आकृतियां मिलती हैं वे किसी-न-किसी तपस्वी की सूचक हैं, ऐसा सब स्वीकार करते हैं। नन्दी एवं दूसरे सहचर प्रतीकों के सम्बन्ध को देखते हुए अनेक विचारक ऐसी कल्पना करते हैं कि वे नग्न आकृतियां महादेव की सूचक होनी चाहिये।[1] इस देश में महादेव एक योगी, तपस्वी या अवधूत के रूप में प्रसिद्ध हैं। पौराणिक वर्णनों में तथा लोक-जिह्वा पर महादेव का जो स्वरूप सुरक्षित है वह इतना तो निस्सन्देह सूचित करता है कि लोक-मानस के ऊपर एक वैसे अद्भुत तपस्वी की अमिट एवं चिरकालीन छाप पड़ी हुई है। महादेव के इस लोकमानस-स्थित प्रतिबिम्ब की तुलना जब हम

---

१. 'इस्टर्न रिलीजन एण्ड वेस्टर्न थॉट' पृ. १८ के आधार पर इस वस्तु का निर्देश श्री दुर्गाशंकर शास्त्री ने किया है। देखो 'भारतीय संस्कारोनुं गुजरातमां अवतरण' पृ. १८; डॉ० हरिप्रसाद शास्त्री : 'हड़प्पा अने मोहेंजो दडो' पृ. १७३; डॉ० यदुवंशी : 'शैवमत' पृ. ६–८; राधाकुमुद मुखर्जी : 'हिन्दू सभ्यता' पृ. २३।

ऐतिहासिक एवं वर्तमान युग के अनेक साधकों के जीवन के साथ करते हैं, तब इतना तो मालूम पड़ता है कि महादेव के पौराणिक जीवन के साथ संकलित योगचर्या भारतीय जीवन की प्राचीनतम आध्यात्मिक सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति का विकास किस-किस तरह हुआ यह अब हम संक्षेप में देखें।

जिन-जिन क्रियाओं, आचारों और अनुष्ठानों से असाधारण ओज, बल अथवा शक्ति के प्राकट्य का सम्भव माना जाता है वे सभी क्रियाएं, आचार और अनुष्ठान तप के नाम से व्यवहृत होते आये हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि तप का स्वरूप स्थूल में से सूक्ष्म की ओर क्रमशः विकसित होता गया है और जब तप का सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म अर्थ विकसित हुआ और विरल साधकों के जीवन में साकार हुआ, उस समय भी उसके स्थूल और बाह्य अनेक स्वरूप समाज एवं धर्म-सम्प्रदायों में प्रचलित रहे। तप के स्थूल और बाह्य स्वरूप में कम से कम नीचे लिखी बातों का समावेश होता ही है :— (१) गृहवास का परित्याग करके वन, गुफा, श्मशान अथवा सुनसान जैसे विविक्त स्थानों में रहना; (२) सामाजिक वेशभूषा का त्याग, जिसके कारण या तो नग्नत्व और यदि वस्त्र धारण किये जायं तो भी वे जीर्ण कन्थाप्राय और अत्यल्प; (३) या तो जटाधारण या फिर सर्वथा मुण्डत्व; (४) अनशन व्रत का आग्रह और अशन करना हो तो उसकी भी मात्रा हो सके उतनी कम और वह भी नीरस; (५) नाना प्रकार के देहदमन। इन और इनके जैसी दूसरी अनेकविध चर्याओं का आचरण तत्कालीन तपस्वी करते थे।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि उनका लक्ष्य मुख्यतया मन को

---

२. तपश्चर्याके ये मुद्दे जिसके आधार पर फलित होते हैं, उसके लिए अधोनिर्दिष्ट साहित्य उपयोगी होगा :—

'औपपातिकसूत्र' गत तपवर्णन जिसमें उसके ३५४ भेद बतलाये हैं, तथा परिव्राजक एवं तापसोंका वर्णन; 'भगवतीसूत्र' गत 'शिवतापस' शतक ११, उद्देश ९ तथा 'तामली तापस' शतक ३, उद्देश्य १; भगवान महावीर की तपश्चर्याका 'आचारांग' गत वर्णन, अध्याय ९ उपधानश्रुत; बुद्धकी तपश्चर्याका वर्णन : 'मज्झिमनिकाय' अरियपरियेसनसुत्त, महासच्चकसुत्त।

'महाभारत' (चित्रशाला संस्करण) अनुशासन पर्व १४१. ८९–९० में चार प्रकार के भिक्षुओंका वर्णन आता है; १४१. ९५–११५ में वानप्रस्थोंका वर्णन है। वैसा ही वर्णन १४२. ४–३३ में है। पंचाग्नितपका उल्लेख १४२–९ में है; विविध मरणोंका उल्लेख १४२. ४४–५९ में तथा तापसों का वर्णन १४२. ३४ में है। 'रामायण' में शम्बूक तापसकी कथा काण्ड ७, अध्याय ६५–६ में आती है।

'श्रीमद्भागवत' गत ऋषभचरित, स्कन्ध ५, अध्याय ५।

जीतने का और उसके द्वारा कोई ऐहिक या पारलौकिक सिद्धि प्राप्त करने का था; फिर भी बहुत प्राचीनकाल में तप के ये प्रकार देहदमन की स्थूल क्रियाओं से बहुत आगे विकसित नहीं हुए थे। परन्तु उनमें विचार का तत्त्व विशेष रूप से प्रविष्ट होने पर वे समझने लगे कि केवल कठोर से कठोर कायक्लेश भी उनका ध्येय सिद्ध नहीं कर सकता। इस विचार ने उन्हें वाक्-संयम की ओर तथा मन की एकाग्रता साधने के विविध उपायों की शोध करने की ओर भी प्रेरित किया। अनेक साधक स्थूल तप के आचरण में ही इतिश्री मानते थे, फिर भी कई ऐसे विरल विवेकी तपस्वी भी हुए जो वैसे स्थूल तप को अन्तिम उपाय न मानकर एवं उसे एक बाह्य साधन समझकर उसका उपयोग करते रहे तथा मुख्य रूप से मन की एकाग्रता साधने के उपायों में और मनकी शुद्धि साधने के प्रयत्न में ही अपनी समग्र शक्ति लगाते रहे। इस प्रकार तपोमार्ग का विकास होता गया और उसके स्थूल-सूक्ष्म अनेक प्रकार भी साधकों ने अपनाये। जब तक यह साधना मुख्यतया तप के नाम से ही चालू रही तब तक इसकी तीन शाखाएं अस्तित्व में आ चुकी थीं। वे तीन शाखाएँ हैं: (१) अवधूत, (२) तापस, और (३) तपस्वी।

अवधूत लोकजीवन और लोकचर्या से सर्वथा विपरीत होता है। इसका वर्णन पौराणिक साहित्य में बचा है। उसमें भी भागवतपुराण विशेष उल्लेखनीय है। उसके पाँचवें स्कन्ध के पाँचवें और छठे अध्यायों में एक अवधूत के रूप में नाभिनन्दन ऋषभदेव की चर्या का वर्णन आता है[3]; और ग्यारहवें स्कन्ध में चौबीस

---

३. """""भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज ॥ २८ ॥

जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रत-स्तूष्णींबभूव ॥ २९ ॥

तत्र तत्र पुरग्रामाकरखेटवाटखर्वटशिबिरव्रजघोषसार्थगिरिवनाश्रमादिष्वनुपथमवनि-चरापसदैः परिभूयमानो मक्षिकाभिरिव वनगजस्तर्जनताडनावमेहनष्ठीवनग्रावशकृद्रजःप्रक्षेप-पूतिवातदुरुक्तैस्तदविगणयन्नेवासत्संस्थान एतस्मिन् देहोपलक्षणे सदपदेश उभयानुभवस्वरूपेण स्वमहिमावस्थानेनासमारोपिताहंममाभिमानत्वादविखण्डितमनाः पृथिवीमेकचरः परिबभ्राम ॥ ३० ॥

······ परागवलम्बमानकुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रह-गृहीत इवादृश्यत ॥ ३१ ॥

यर्हि वाव स भगवान् लोकमिमं योगस्याद्धा प्रतीपमिवाचक्षाणस्तत्प्रतिक्रियाकर्म बीभत्सितमिति व्रतमाजगरमास्थितः शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हदति स्म चेष्ट-मान उच्चरित आदिग्धोद्देशः ॥ ३२ ॥

गुरु[४] करने वाले अवधूत दत्त की चर्या का उल्लेख आता है। अवधूत का संक्षेप में अर्थ इतना ही है कि मनुष्य होने पर भी बुद्धिपूर्वक मानवसमाज की प्रचलित चर्या का परित्याग करके पशु-पक्षी जैसा निरवद्य जीवन जीने वाला साधक। जैन पुराणों में भी ऋषभदेव का प्रथम तीर्थंकर के रूप में स्थान है ही।[५] उसमें भागवत जैसा अजगर, गाय, मृग अथवा काक जैसी चर्या का वर्णन तो नहीं आता, परन्तु जो उत्कट तपका वर्णन आता है वह इतना तो सूचित करता ही है कि ऋषभदेव ने सर्वथा निर्मम होकर जीवन जीने वाले किसी विशिष्ट अवधूत के रूप में लोकादर प्राप्त किया था।

········एवं गोमृगकाकचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानः काकमृगगोचरितः पिबति खादत्यवमेहति स्म ।। ३४ ।।

इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभोऽविरतपरममहानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेव आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत् ।। ३५ ।।

—श्रीमद् भागवत स्कंध ५, अध्याय ५

अध्याय ६ के श्लोक ६ से १६ में भी यह चर्चा आती है।

४. 'श्रीमद्भागवत' स्कन्ध ११, अध्याय ७, श्लोक ३३–५ में २४ गुरुओंके नाम हैं। इसके पश्चात् उनका वर्णन करके कौन-कौन से गुण उनसे सीखे उसका वर्णन है।

५. उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे पढमकेवली पढमतित्थकरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्थे।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सटीक पृ. १३५, सूत्र ३०

इसके अतिरिक्त देखो 'वसुदेवहिण्डी' पृ. १५७–६८, तथा 'चउप्पन्नमहापुरिसचरिय' में ऋषभचरित पृ. ४०–१।

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ।।
विहाय यः सागर-वारि-वाससं वधूमिवेमां वसुधावधू सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ।।
स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम्।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ।।
स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्याऽऽत्मवपुर्निरंजनः।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनोऽजितक्षुल्लकवादिशासनः ।।

—स्वयंभूस्तोत्र, १. २–५

आदिमं पृथिवीनाथमादिमं निष्परिग्रहम्।
आदिमं तीर्थनाथं च ऋषभस्वामिनं स्तुमः ।।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १. १.३

प्राचीन-समय की यह अवधूत-परम्परा महादेव, दत्त अथवा वैसे किसी पौराणिक योगी के नाम पर प्रचलित पंथों में किसी-न-किसी रूप में आज भी बची हुई है। अवधूतगीता यद्यपि एक अर्वाचीन ग्रन्थ है, फिर भी उसमें अवधूत का थोड़ा परिचय प्राप्त हो सके ऐसी बातें[६] भी उल्लिखित हैं। जैन और बौद्ध परम्परा में भी इस अवधूत का स्वरूप सुरक्षित रहा है और उच्च प्रकार की आध्यात्मिक साधना के एक उपाय के रूप में इस चर्या का आदर किया गया है। आचारांग, जो उपलब्ध जैन आगमों में सर्वाधिक प्राचीन समझा जाता है, उसमें एक अध्ययन (प्रथम श्रुतस्कन्ध का छठा अध्ययन) आता है जिसका नाम ही 'धूत' है। उसमें उत्कट त्यागी की जीवनचर्या के उद्गार आते हैं, जो कि जैन-परम्परा में अन्यत्र वर्णित ऋषभदेव अथवा महावीर के जीवन की झाँकी कराते हैं। बौद्ध-परम्परा में यद्यपि जैन-परम्परा की भाँति, तप अथवा देहदमन के ऊपर भार नहीं दिया गया, तथापि उसमें भी समाधि के अभिलाषी के लिए प्रथम कैसा जीवन आवश्यक है यह बतलाने वाले तेरह धूतांगों का विस्तार से वर्णन मिलता ही है।[७] धूताध्ययन में आने वाली जैन चर्या, धूतांगों के वर्णन में आने वाली बौद्ध-चर्या तथा अवधूत-परम्परा के वर्णन में आने वाली अवधूत योगी की चर्या इन तीनों का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले को ऐसा ज्ञात हुए बिना नहीं रहेगा कि ये तीनों शाखाएँ मूल में एक ही परम्परा के तीव्र-मृदु आविर्भाव हैं; जैन और बौद्ध परम्परा में अवधूत के स्थान में 'धूत' इतना ही पद प्रयुक्त हुआ है। ऐसा होने पर भी प्राचीन 'अवधूत' पद तपस्वी, योगी या उत्कट साधक के अर्थ में इतना अधिक रूढ़ हो गया है कि कबीर और जैन साधक आनन्दघन जैसे भी अपनी कृतियों में 'अवधू' पद का बार-बार प्रयोग करते हैं।[८]

---

६. शून्यागारे समरसपूतस्तिष्ठन्नेकः सुखमवधूतः ।
चरति हि नग्नस्त्यक्त्वा गर्वं विन्दति केवलमात्मनि सर्वम् ॥
—अवधूतगीता अ. १, श्लोक ७३

७. विसुद्धिमग्ग : धूतंगनिद्देस, पृ. ४० ।

८. कबीर—
अवधू कुदरत की गति न्यारी ।
रंक निवाज करे वह राजा भूपति करै भिखारी ॥१२॥
अवधू छोडहू मन बिस्तारा ।
सो पद गहो जाहि ते सद्गति पार ब्रह्म ते न्यारा ॥१३॥
अवधू अन्ध कूप अंधियारा ।
या घट भीतर सात समुन्दर याहि में नद्दी नारा ॥७७॥

जैन आगमों में अनेक स्थानों पर तापसों का वर्णन आता है।[९] महाभारत[१०] एवं पुराणों में[११] भी तापसों के आश्रमों का वर्णन आता है। इन तापसों की चर्या विशेष देहदमनपरायण होने पर भी अवधूतों की अपेक्षा कुछ कम उग्र होती है। तापस भी नग्न अथवा नग्न जैसे रहते; मूल, कंद, फल आदि के द्वारा निर्वाह करते और यदि अन्न लेते भी तो भिक्षा के द्वारा लेते। अवधूत कपाल—खोपड़ी रखते, तो तापस सिर्फ लकड़ी का अथवा वैसा कोई पात्र रखते और कई तो पाणिपात्र भी होते और भिक्षाटन करते। इनमें से अनेक तापस पंचाग्नि तप करते[१२] और किसी-न-किसी प्रकार का सादा अथवा उग्र जीवन जीकर मन को वश में लाने का प्रयत्न करते। अधिक जाड़ा और अधिक गरमी सहन करना—यह उनकी खास तपोविधि थी। आज भी ऐसे तापस अकेले-दुकेले और कभी-कभी समूह में मिलते ही हैं। परन्तु अवधूत और तापस वर्ग की तपश्चर्या में भी सुधार होने लगा। पंचाग्नि तप के स्थान पर मात्र सूर्य का आतप लेना ही इष्ट माना गया। चारों दिशाओं में लकड़ियाँ जलाकर तप करने में हिंसा का तत्त्व मालूम पड़ने पर उस विधि का परित्याग किया गया। पत्र, फल, मूल, कन्द जैसी वनस्पति पर निर्वाह करना भी वानस्पतिक जीवहिंसा की दृष्टि से त्याज्य समझा गया। जटा धारण करने पर जूँ या लीख का होना सम्भव है, इस विचार से सर्वथा मुण्डन इष्ट माना गया; और उस्तुरे से सर्वथा मुण्डन कराने के बजाय अपने हाथ से ही बालों को खींचकर लुञ्चन करना निरवद्य समझा गया।

अवधू भूले को घर लावै सो जन हमको भावै।
घरमें जोग भोग घर ही में घर तजि बन नहिं जावै ॥१११॥

—कबीर वचनावली, द्वितीय खण्ड

आनन्दघन—

अवधू नट नागर की बाजी जाणे न बांभण काजी ॥५॥
अवधू क्या सोवे तन मठ में जाग विलोकन घट में ॥७॥
अवधू राम राम जग गावे, विरला अलख लगावे ॥२७॥

—श्री मोतीचन्द गि. कापडिया द्वारा संपादित "श्री आनन्दघनजीनां पदो"

९. 'भगवती' गत अवतरणों के लिए देखो प्रस्तुत व्याख्यान की पादटीप २। इसके अतिरिक्त देखो 'चउप्पन्नमहापुरिसचरिय' पृ० ४०; 'वसुदेवहिण्डी' पृ० १६३।

१०. 'महाभारत' के लिए देखो प्रस्तुत व्याख्यान की पादटीप २।

११. पुष्कर तीर्थ की उत्पत्ति के प्रसंग में वन का वर्णन 'पद्मपुराण' में आता है, जिसमें देवों द्वारा की गई तपश्चर्या का उल्लेख है। देखो 'पद्मपुराण' अध्याय १५, श्लोक २२। पुष्कर तीर्थ में रहनेवाले तपस्वियों के वर्णन के लिए देखो 'पद्मपुराण' अध्याय १८, श्लोक ६८ से।

१२. 'महाभारत' अनुशासनपर्व १४२.६।

इस प्रकार तापस प्रथा में अहिंसा की दृष्टि से[13] जो विशेष सुधार अथवा परिवर्तन हुए वे तपस्वी-मार्ग के रूप में प्रसिद्ध हुए। तपस्वी-मार्ग अहिंसा की दृष्टि से तापस-मार्ग का ही एक संस्करण है। पार्श्वनाथ और खास कर के महावीर इस तपस्वी-मार्ग के पुरस्कर्ता हैं। जैन आगमों में जो प्राचीन वर्णन बच गये हैं उनमें तापस और तपस्वी के जीवन की भेदरेखा[14] स्पष्ट है। तपस्वी-जीवन में उत्कट, उत्कटतर और उत्कटतम तप के लिए स्थान है, परन्तु उसमें मुख्य दृष्टि यह रही है कि वैसे तप का आचरण करते समय सूक्ष्म जीव तक की विराधना न हो। इस तरह हमने संक्षेप में देखा कि महादेव के पौराणिक जीवन से लेकर महावीर के ऐतिहासिक वर्णन तक तप की बाह्य चर्या में उत्तरोत्तर कैसा सुधार अथवा परिवर्तन होता गया है। इस सुधार या विकास का समग्र चित्र भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध होता है।

तपोमार्ग का वर्णन पूरा करके आगे विचार करें उससे पहले तीन ऐतिहासिक तीर्थंकरों की जीवनचर्या की तुलना हम संक्षेप में करें। बुद्ध, गोशालक और महावीर ये तीनों समकालीन थे। उस समय उत्तर एवं पूर्व भारत के विशाल प्रदेश पर श्रमणों एवं परिव्राजकों के अनेक समूह विचरते थे। वे सब अपने-अपने ढंग से उत्कट या मध्यम प्रकार का तप करते थे। गृह का परित्याग किया तब से बुद्ध तप करने लगे। उन्होंने स्वमुख से अपनी तपश्चर्या का जो वर्णन किया है, और जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का है, उसमें स्वयं उनके द्वारा आचरित नाना प्रकार के तपों का निर्देश है।[15] उस निर्देश को देखते हुए ऐसा कहा जा सकता है कि अवधूतमार्ग में जिस प्रकार के तपों का आचरण किया जाता था, वैसे ही तप बुद्ध ने किये थे। अवधूतमार्ग में पशु और पक्षी के जीवन का अनुकरण करने वाले तप विहित हैं। बुद्ध ने वैसे ही उग्र तप किये थे। गोशालक और महावीर दोनों तपस्वी तो थे ही, परन्तु उनकी तपश्चर्या में न तो अवधूतों की और न तापसों की विशिष्ट तपश्चर्या का

---

१३. देखो 'चउप्पन्नमहापुरिसचरिय' के अंतर्गत पासनाहचरिय में कमठप्रसंग, पृ० २६१–२; 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' पर्व ६, सर्ग ३, श्लोक २१४–३०।

१४. तापसका एक अर्थ 'तापप्रधानः तापसः' ऐसा भी होता है, और तपस्वी शब्द के विविध अर्थों में 'प्रशस्ततपोयुक्त' एवं 'प्रशस्ततपोऽन्वित' ऐसे अर्थ भी दिये गये हैं, जिससे तापस की अपेक्षा तपस्वी भिन्न होता है ऐसा सूचन उपलब्ध होता है। देखो 'अभिधानराजेन्द्र' में 'तवस्सि' और 'तावस' शब्द।

पंचाग्नि तप के स्थान पर तपस्वियों ने जिस आतापना को स्वीकार किया वह यह थी : 'आयावयन्ति गिम्हेसु'–दशवैकालिकसूत्र ३.१२।

१५. देखो प्रस्तुत व्याख्यान की पादटीप २।

अंश था। दोनों तीर्थनायक देहदमन के ऊपर भार देते थे, नग्न विचरण करते थे, श्मशान और शून्य गृहों में एकाकी रहते थे, शुष्क एवं नीरस आहार लेते थे और लम्बे लम्बे उपवास भी करते थे;[१६] फिर भी उन्होंने कभी बुद्ध के जैसे तप एवं व्रतों का आचरण नहीं किया। अन्त में बुद्ध इस तपोमार्ग का परित्याग करके दूसरे मार्ग का अवलम्बन लेते हैं, किन्तु गोशालक और महावीर दोनों तपश्चर्या का अन्त तक आश्रय लेते हैं। इस बात का विश्लेषण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध तप की उत्कट कोटि तक पहुंचे थे, परन्तु जब उसका परिणाम उनके लिए सन्तोषप्रद न आया तब वह ध्यानमार्ग की ओर अभिमुख हुए और तप को निरर्थक मानने-मनवाने लगे।[१७] शायद यह उनके अत्यन्त उत्कट देहदमन की प्रतिक्रिया हो; परन्तु गोशालक और महावीर के बारे में ऐसा नहीं है। उन्होंने उग्र तप के साथ पहले ही से ध्यान जैसे अन्तस्तप के ऊपर पूरा लक्ष दिया था और उन्होंने ऐसा भी कहा कि बाह्य तप चाहे जितना कठोर हो, परन्तु उसकी सार्थकता अन्तस्तप पर अवलम्बित है। इसीलिए उन्होंने अपने तपोमार्ग मे बाह्य तप को अन्तस्तप के एक साधन के रूप में ही स्थान दिया।[१८] सम्भवतः इसी कारण उनमें प्रतिक्रिया न हुई। गोशालक का जो जीवन-वृत्त मिलता है वह तो बौद्ध और जैन ग्रन्थों के द्वारा ही मिलता है; फिर भी उसमें से इतना सार तो निकलता ही है कि गोशालक स्वयं तथा उनका आजीवक श्रमण-संघ नग्नत्व के[१९] ऊपर अधिक भार देता था।

---

१६. गोशालक के लिए देखो 'भगवतीसूत्र' शतक १५ तथा 'भगवतीसार' पृ० २८०, २८४–५।

१७. बुद्ध की तपस्या और उसकी निरर्थकता जो उन्हे ज्ञात हुई उसके बारे में देखो 'मज्झिमनिकाय' के चूळदुक्खखंधसुत्त, महासीहनादसुत्त और अरियपरिएसनसुत्त तथा 'बुद्धचरित' (धर्मानन्द कोसम्बीकृत) में तद्विषयक प्रकरण पृ० १३४।

तुलना करो—

तपस्विभ्योऽधिको योगी। —भगवद्गीता ६.४६

१८. देखो 'आचारांगसूत्र' के अध्ययन ९ के अधोनिर्दिष्ट स्थान—

अदु पोरिसि तिरियं भित्ति चक्खुमासज्ज अंतसो झायइ (४६); राइं दिवं पि जयमाणे अपमत्ते समाहिए झाइ (६८); अकसाई विगयगेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाइ (१०९)।

सिद्धान्त के रूप में बाह्य तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप का ही अधिक महत्त्व माना गया है—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्व—
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्।
—स्वयम्भूस्तोत्र १७.३

१९. देखो 'भगवतीसार' पृ० २८१।

बुद्ध, गोशालक और महावीर की भांति दूसरे भी अनेक श्रमण-धर्म के नायक उस समय थे। उनमें सांख्य परिव्राजकों का विशिष्ट स्थान था। वे परिव्राजक भी तप-त्याग के ऊपर भार तो देते ही थे; फिर भी उनमें कितने ही ऐसे साधक भी थे जो मुख्य रूप से ध्यानमार्गी थे और ध्यान एवं योग के विविध मार्गों का अनुसरण करते थे। स्वयं बुद्ध ने ही वैसे सांख्य गुरुओं के पास ध्यान की शिक्षा ली थी।[२०] उतने से जब उन्हें सन्तोष न हुआ तब ध्यान की दूसरी कई नई पद्धतियों का भी उन्होंने प्रयोग किया। इस प्रकार बुद्ध से ही ध्यानलक्षी बौद्ध-परम्परा का प्रारम्भ हुआ। सांख्य परिव्राजकों की ध्यान-प्रक्रिया योग के नाम से विशेष प्रसिद्ध हुई और बुद्ध की ध्यान-प्रक्रिया समाधि के नाम से व्यवहृत हुई, तो आजीवक और निर्ग्रन्थ परम्परा की साधना तप के नाम से पहचानी जाती है; फिर भी निर्ग्रन्थ-परम्परा में इसके लिए 'संवर' शब्द विशेष प्रचार में आया है। इस तरह हम कह सकते हैं कि योग, समाधि, तप और संवर ये चार शब्द आध्यात्मिक साधना के समग्र अंग-उपांगों के सूचक हैं और इसी रूप में वे व्यवहार में प्रतिष्ठित भी हुए हैं।

प्रत्येक आध्यात्मिक साधक अपनी साधना किसी-न-किसी प्रकार के तत्त्वज्ञान का अवलम्बन लेकर ही करता था। तत्त्वज्ञान की मुख्य तीन शाखाएँ हैं—(१) प्रकृति-पुरुष द्वैतवादी, (२) परमाणु और जीव बहुत्ववादी, और (३) अद्वैत ब्रह्मवादी। जो साधना योग के नाम से प्रख्यात हुई है उसके साथ मुख्यतया प्रकृति-पुरुष द्वैतवाद का सम्बन्ध देखा जाता है; समाधि, तप और संवर के नाम से जो साधना प्रसिद्ध हुई उसके साथ परमाणु एवं जीवबहुत्ववाद का सम्बन्ध रहा है; और जो साधना वेदान्त के नाम से व्यवहृत हुई उसके साथ मुख्यतः अद्वैत ब्रह्मवाद का सम्बन्ध दृष्टि-गोचर होता है।

इस प्रकार तत्त्वज्ञान का भेद तो था ही और साधना के नामों में भी भेद चलता था, फिर भी इन साधनाओं के मार्गों एवं अंगों के ऊपर जब हम विचार करते हैं तब ऐसा ज्ञात होता है कि किसी ने अपनी साधना में अमुक अंग अथवा पद्धति को प्राधान्य दिया है, तो दूसरे ने दूसरे अंग अथवा पद्धति पर भार दिया है। उनमें फ़र्क सिर्फ़ गौण-मुख्यभाव का ही है; परन्तु ऐसी कोई आध्यात्मिक साधना

---

२०. देखो 'मज्झिमनिकाय' में महासच्चकसुत्त। अश्वघोषने 'बुद्धचरित' काव्य में आलार कालाम और उद्दक रामपुत्र को, जिनके पास बुद्ध ने सर्वप्रथम योग सीखा था, सांख्यमत के प्रवर्तक कहा है। विशेष चर्चा के लिए देखो श्री धर्मानन्द कोसम्बी का 'बुद्धचरित' पृ० १०।

नहीं दीख पड़ती जिसमें साधना के अंग के रूप में विकसित आचार एवं विचार का, एक अथवा दूसरे रूप में, समावेश न हुआ हो।

तत्त्वज्ञान, सम्प्रदाय और साधकों की भिन्नता होने पर भी आध्यात्मिक साधना एक ही है—ऐसा जब हम कहते हैं तब उसका भाव क्या है यह समझ लेना हमारे लिए आवश्यक है। जीवन के साथ अनिवार्य रूप से संलग्न एवं संकलित जो जो मांगलिक तत्त्व हैं उन्हें आवृत करने वाले मल या क्लेशों के निवारण का सतत प्रयत्न ही आध्यात्मिक साधना है। इस साधना में मुख्यतः भक्ति, क्रिया—कर्मशक्ति, ध्यान और ज्ञान इन चार चित्तगत गुणों का विकास करने का होता है। ईश्वर, वीतराग अथवा अन्य किसी उदात्त आदर्श को सतत सम्मुख रखकर निष्ठापूर्वक जीवनव्यवहार चलाना भक्तियोग है। शारीरिक और मानसिक जीवन इस तरह जीना कि जिससे शरीर नीरोग और सबल रहे और साथ ही मन क्लेशों के आघात का अनुभव न करे; इसी भांति साधक जिस समाज या समष्टि में रहता हो उस समाज या समष्टि को अपने आचार-विचार से त्रास या बाधा न पहुँचाना–ऐसी जीवन-कला क्रिया अथवा कर्मयोग है। बाह्य आकर्षक भोग्य विषयों में सतत प्रवृत्तिशील मन को इन्द्रियों के अनुगमन अथवा परतन्त्रता से मुक्त करके इस तरह स्थिर करना जिससे कि इन्द्रियाँ स्वयं ही मन की अनुगामी या मन के अधीन बनें—यह ध्यान-योग है। इन तीनों योगों के द्वारा मन की ज्ञान-कला यहाँ तक विकसित करनी कि उसके द्वारा मन अपना भीतरी स्वरूप बराबर समझ-बूझ सके और कौन-कौन से क्लेश किस-किस तरह काम करते हैं तथा वे अपने और दूसरे के जीवन में किस तरह बाधक होते हैं यह यथार्थ रूप से समझ सके, तथा इन क्लेशों की जड़ क्या है और वह कैसी है उसे पकड़ सके—यह ज्ञानयोग है। पातंजल योगशास्त्र के प्रथम पाद में ईश्वरप्रणिधान,[२१] वीतरागध्यान[२२] और जप[२३] जैसे विधानों से भक्तियोग सूचित किया गया है। दूसरे पाद में तप, स्वाध्याय और यम-नियम के जिन स्वरूपों का वर्णन किया है तथा पहले पाद में मैत्री, करुणा आदि जिन चार भावनाओं का निर्देश है उनके द्वारा कर्मयोग सूचित होता है। प्रथम पाद में एक-तत्त्वाभ्यास से प्रारम्भ करके स्थूल, सूक्ष्म, अणु अथवा महत् किसी भी विषय में मन को रोकने का और अनुक्रम से इस धारणा की स्थिति से समाधि तक की स्थिति

---

२१. 'योगसूत्र' १.२३; २.१, ४५।

२२. 'योगसूत्र' १.३७।

२३. 'योगसूत्र' १.२८।

साधने की जिस विधि का निरूपण है वह ध्यानयोग है। अन्तर्निरीक्षण के द्वारा अपने में पड़े हुए क्लेश और उनसे अभिभूत साहजिक शक्तियों का पृथक्करण कर सके ऐसे विवेकजन्य ज्ञान को सिद्ध करने वाले संयम का तीसरे पाद में सूचन है; वह ज्ञानयोग है। इस प्रकार पातंजल योगशास्त्र इन चतुर्विध योग का निरूपण करनेवाला एक अविकल योगशास्त्र है।

पतंजलि ने अपने सुपठ और पारदर्शी सूत्रों में उक्त चार योगों को केन्द्र में रखकर समग्र चर्चा की है। उनकी यह चर्चा पूर्वकालीन अनेक योगशास्त्रों के दोहन का और स्वानुभव का परिणाम है। पतंजलि के पहले अनेक सांख्य-योगी हो चुके हैं। उनमें से हिरण्यगर्भ का नाम प्रमुख है।[२४] उसका शास्त्र अथवा उपदेश हिरण्यगर्भ योग कहा जाता है। उसका समय निश्चित नहीं है, परन्तु वह बहुत ही प्राचीन है, यह तो निःशंक है। हिरण्यगर्भ के योगशास्त्र से चली आने वाली सांख्यावलम्बी योगप्रथा भगवद्गीता में बहुत ही स्पष्ट और काव्यमय शैली में वर्णित है। इस प्रकार भगवद्गीता और पातंजल योगशास्त्र ये दो ग्रन्थ ऐसे हैं जो सांख्यतत्त्वावलम्बी योगप्रक्रिया का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं।

बुद्ध ने अपने ध्यानमार्ग का विकास साधा और उससे सम्बन्ध रखने वाली जिन जिन चर्याओं का सूचन किया है वे पालि पिटकों में इतस्ततः बिखरी हुई हैं, परन्तु इन सब छोटी-बड़ी, सूक्ष्म-स्थूल बातों का योग्य संग्रह बुद्धघोष ने अपने विशुद्धि-मार्ग नामक ग्रन्थ में किया है। उसमें शील एवं समाधि के जो प्रकरण हैं उनमें बौद्ध समाधिशास्त्र का पूर्ण हार्द आ जाता है। बुद्धघोष के इस स्थविरमार्गी ग्रन्थ के अतिरिक्त महायान परम्परा में भी इस विषय के अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें समाधिराज, दशभूमिशास्त्र और बोधिचर्यावतार विशेष उल्लेखनीय हैं। स्थविरवादी और महायानी परम्परा के ये ग्रन्थ बौद्ध तत्त्वावलम्बी समाधिमार्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

---

२४. 'महाभारत' में कृष्ण अपने आपको हिरण्यगर्भ कहते हैं और 'योगों के द्वारा' वे पूजित हैं ऐसा सूचित करते हैं—

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुतः।
यौगैः सम्पूज्यते नित्यं स एवाहं भुवि स्मृतः॥
—शान्तिपर्व ३४२.९६

'सांगयोगदर्शन—भास्वती' का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—
"स्मर्यते च—हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।" पृ० १
'योगकारिका':—"शिष्टा हिरण्यगर्भेण चर्षिभिः पारदर्शिभिः ॥५॥"

पार्श्वनाथ से प्रचलित और महावीर द्वारा पुष्ट तपोमार्ग की साधना 'संवर' के नाम से प्रसिद्ध है। इस संवर के भिन्न-भिन्न अंग आगम में उपलब्ध होते हैं, परन्तु इन सभी अंग-प्रत्यंगों का सुश्लिष्ट संकलन वाचक उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र में किया है। यह एक ही ग्रन्थ जैनतत्त्वज्ञानावलम्बी साधनामार्ग का संपूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। बौद्ध एवं जैन परम्परा के जिन जिन ग्रन्थों का ऊपर निर्देश किया है उनमें वस्तुतः पातंजल योगशास्त्र में निरूपित चतुर्विध योग की प्रक्रिया का ही शब्दान्तर से अथवा परिभाषा के भेद से निरूपण है। अतएव ऐसा कहा जा सकता है कि सभी आध्यात्मिक साधनाएँ किसी एक ही मूलगत प्रेरणा के आविर्भाव हैं।

विक्रम की आठवीं-नवीं शती में होनेवाले हरिभद्र को उपर्युक्त तथा अन्य भी अध्यात्म-विषयक विशाल साहित्य का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था, जिसके प्रमाण उनके अपने ही योग-विषयक मूल ग्रन्थ तथा स्वोपज्ञ व्याख्याओं में से उपलब्ध होते हैं। हरिभद्र के पास केवल साहित्यिक उत्तराधिकार ही था ऐसा भी नहीं है। उनके योग-विषयक विविध विचार और प्रतिपादन के ऊपर से ऐसा निःशंक प्रतीत होता है कि वे योगमार्ग के अनुभवी भी थे। इसीसे उन्होंने स्वानुभव तथा साहित्यिक विरासत के बल पर योग विषय से सम्बद्ध ऐसी कृतियों की रचना की है, जो योग-परम्परा-विषयक आज तक के ज्ञात साहित्य में अनोखी विशेषता रखती है। तत्त्वज्ञान-विषयक अपने ग्रन्थों में उन्होंने तुलना एवं बहुमानवृत्ति द्वारा जो समत्व दर्शाया है उस समत्व की पराकाष्ठा तो उनके योग-विषयक ग्रन्थों में प्रकट होती है। इसके अतिरिक्त उनके योग-ग्रन्थों में दो मुद्दे ऐसे आते हैं जो उनको छोड़कर अन्य किसी की भी कृति में मैंने वैसे स्पष्ट नहीं देखे। उनमें से पहला मुद्दा है : अपनी परम्परा को भी अभिनव दृष्टि का कडुआ घूंट पिला कर उसे सबल और सचेतन बनाना, और दूसरा मुद्दा है : भिन्न-भिन्न पंथों और सम्प्रदायों के बीच संकीर्ण दृष्टि के कारण, अपूर्ण अभ्यास के कारण तथा परिभाषाभेद को लेकर उत्पन्न होनेवाली ग़लतफ़हमी के कारण जो अन्तर चला आता था और उसका संवर्धन एवं पोषण होता रहता था उसे दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न। हरिभद्र की इस विशेषता का मूल्यांकन करने के लिए उनके चार ग्रन्थों का विहंगावलोकन करना यहाँ उपयुक्त होगा। उनके इन चार ग्रन्थों में से दो प्राकृत भाषा में हैं, तो दूसरे दो संस्कृत में हैं। प्राकृत भाषा में लिखित योगविंशिका और योगशतक मुख्य रूप से जैन-परम्परा की आचार-विचार प्रणालिका का अवलम्बन लेकर लिखे गये हैं; परन्तु ऐसा लगता है कि उन कृतियों के द्वारा जैनपरम्परा के रूढ़ मानस को विशेष उदार बनाने का उनका आशय होगा। इसीसे उन्होंने योग-विंशिकामें जैन-परम्परा में प्रचलित चैत्यवन्दन जैसी दैनिक क्रिया का आश्रय लेकर

उसमें ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा प्रीति, भक्ति आदि तत्त्व, जो कि इतर योग-परम्परा में बहुत प्रसिद्ध हैं, घटाये हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने रूढ़िवादियों को यह भी सुना दिया है कि बहुजनसम्मति होना सच्चे धर्म अथवा तीर्थ का लक्षण नहीं है। सच्चा धर्म और सच्चा तीर्थ तो किसी एक मनुष्य की विवेकदृष्टि में होता है। ऐसा कहकर उन्होंने लोकसंज्ञा अथवा 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' का प्रतिवाद किया है।[२५] यह एक आध्यात्मिक निर्भयता है।

योगशतक

योगशतक में जैनों के धार्मिक जीवन को लक्ष्य में रखकर विचार किया गया है। जिस प्रकार वैदिक-परम्परा में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास ये चार आश्रम हैं, उसी प्रकार यथार्थ जैन-जीवन के चार क्रम-विकासी विभाग हैं। जैनत्व जाति से, अनुवंश से अथवा किसी प्रवृत्तिविशेष से नहीं माना गया है, परन्तु वह तो आध्यात्मिकता की भूमिका के ऊपर निर्भर है। जब किसी व्यक्ति की दृष्टि मोक्षाभिमुख होती है तब वह जैनत्व की प्रथम भूमिका है। इसका पारिभाषिक नाम अपुनर्बन्धक है। मोक्ष के प्रति सहज श्रद्धा-रुचि और उसकी यथाशक्ति समझ-यह सम्यग्दृष्टि नाम की दूसरी भूमिका है। जब वह श्रद्धा—रुचि एवं समझ आंशिक रूप से जीवन में उतरती है तब देशविरति नाम की तीसरी भूमिका होती है। इससे आगे जब सम्पूर्ण रूप से चारित्र अथवा त्याग की कला विकसित होने लगती है, तब सर्वविरति नाम की चौथी और अन्तिम भूमिका आती है। इन चार भूमिकाओं में साधक क्या करे, क्या सोचे और आगे प्रगति करने के लिए क्या प्रयत्न करे—यह योगशतक में प्रतिपादित है। एक तरह से जैन परिभाषा में जैन-परम्परा में चला आनेवाला यह वर्णन है, जैसा कि इतर परम्पराओं के योग-ग्रन्थों में उस-उस परम्परा की परिभाषा में चला आने वाला वर्णन मिलता है। अतः योगविंशिका एवं योगशतक इन दो ग्रन्थों के बारे में इतना कहा जा सकता है कि इनकी रचना जैन-परम्परा के ढांचे पर हुई है, परन्तु हरिभद्र की जो असली सूझ है वह इन साम्प्रदायिक समझे जा सके ऐसे ग्रन्थों में भी आये बिना नहीं रही। इनमें से दो-तीन बातों का निर्देश यहां पर्याप्त समझा जायगा।

हरिभद्र कहते हैं कि जिसने अभी धर्म की सच्ची भूमिका का स्पर्श नहीं किया और जो केवल उस ओर अभिमुख है, वैसे प्रथम अधिकारी को लोक और समाज के बीच रहकर आचरण करने योग्य धर्म का उपदेश देना चाहिए, जिससे वह लौकिक

२५. 'मुत्तूण लोगसन्नं'—योगविंशिका, १६

धर्म से वंचित न हो। ऐसा कहकर वह गुरु, देव, अतिथि आदि के पूजा-सत्कार का तथा दीनजनों को दान देने का विधान करते हैं।[२६] निवृत्ति की दिशा में विशेष रूप से उन्मुख समाज में बहुत बार ऐसे आवश्यक धर्म की उपेक्षा होने लगती है। हरिभद्र ने शायद यह वस्तु तत्कालीन जैन समाज में देखी और उन्हें लगा कि आध्यात्मिक माने जानेवाले निवृत्तिपरायण लोकोत्तर धर्म के नाम पर लौकिक धर्मों का उच्छेद कभी वांछनीय नहीं है। इसीलिए उन्होंने समाज के धारक एवं पोषक सभी धर्मों का आचरण आवश्यक माना। वे जब गुरु, देव और अतिथि के आदर-सत्कार की बात कहते हैं, तब केवल जैन गुरु, जैन देव या जैन अतिथि की बात नहीं कहते। वे तो गुरु की बात विद्या, कला आदि विषयों को सिखाने वाले सभी गुरुवर्ग और माता-पिता तथा अन्य आप्तजनों को उद्दिष्ट करके कहते हैं। इसी प्रकार देव की बात समाज में भिन्न-भिन्न वर्गों द्वारा पूजित सभी देवों को लक्ष्य में रखकर करते हैं, तथा अतिथि-वर्ग में वे सभी अतिथियों का समावेश करते हैं। वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में लौकिक धर्म सद्गुणपोषक और सद्गुणसंवर्धक बनते हैं। धीरे धीरे इन सद्गुणों के विकास के द्वारा लोकोत्तर धर्म अर्थात् आध्यात्मिकता के सच्चे विकास में प्रवेश हो सकता है—यह बात उन्होंने एक सरल दृष्टान्त द्वारा समझाई है। वे कहते हैं कि अरण्य में भूला पड़ा हुआ यात्री पगडण्डी मिलने से धीरे धीरे जैसे मुख्य मार्ग पर आ पहुँचता है, वैसे योग का प्रथम अधिकारी भी लोकधर्म का यथावत् पालन करते करते सुसंस्कार और विवेक की अभिवृद्धि से योग के मुख्य मार्ग में प्रवेश करता है।[२७] हरिभद्र से पहले ऐसा स्पष्ट विधान किसी जैनाचार्य ने शायद ही किया होगा।

जैन-परम्परा अहिंसाप्रधान होने से उसका धार्मिक आचार अहिंसा की नीव पर रचा गया है, परन्तु हिंसाविरमण आदि पद अधिकांशतः निवृत्तिसूचक होने से उनका भावात्मक पहलू उपेक्षित रहा है। हरिभद्र ने देखा कि हिंसानिवृत्ति, असत्य-निवृत्ति आदि अणुव्रत या महाव्रत केवल निवृत्ति में ही पूर्ण नहीं होते, परन्तु उनका एक प्रवर्तक पहलू भी है। इससे उन्होंने जैन-परम्परा में प्रचलित अहिंसा, अपरिग्रह जैसे व्रतों की भावना को पूर्ण रूप से व्यक्त करने के लिए मैत्री, करुणा आदि चार

---

२६. पढमस्स लोगधम्मे परपीडावज्जणाइ ओहेणं ।
गुरुदेवातिहिपूयाइ दीणदाणाइ अहिगिच्च ॥
—योगशतक, २५

२७. एवं चिय अवयारो जायइ मग्गम्मि हंदि एयस्स ।
रण्णे पहपब्भट्ठो वट्टाए वट्टमोयरइ ॥
—योगशतक, २६

भावनाओं के ऊपर भी भार दिया। अलबत्ता, ये भावनाएँ योगसूत्र[२८] और तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में[२९] तो हैं ही, परन्तु इन भावनाओं के विकास का मुख्य श्रेय महायानी परम्परा को है। जिस प्रकार हरिभद्र अपने दूसरे अनेक ग्रन्थों में महायानी आदि इतर परम्पराओं के द्वारा पोषित धर्म के प्रवर्तक सदंशों को स्वीकार करते हैं और उनमें से एक उत्तम रसायन तैयार करते हैं, वैसे ही उन्होंने योगशतक में भी उक्त मैत्री आदि चार भावनाओं को गूंथकर[३०] निवृत्ति एवं प्रवृत्ति धर्म का परस्पर उपकार करनेवाला आध्यात्मिक रसायन तैयार किया हो, ऐसा प्रतीत होता है।

हरिभद्र की तुलना-दृष्टि योगशतक में भी देखी जाती है। उन्होंने योग का लक्षण या स्वरूप तीन दृष्टियों से उपस्थित करके तुलना का द्वार खोल दिया है। योग श्रेय की सिद्धि का दीर्घतम धर्मव्यापार है। इसमें दो अंश हैं: एक निषेधरूप और दूसरा विधिरूप। क्लेशों का निवारण करना यह निषेधांश; इससे प्रकट होनेवाली शुद्धि के कारण चित्त की कुशलमार्ग में ही प्रवृत्ति यह विधि-अंश। इन दोनों पहलुओं को अपने में समेटने वाला धर्मव्यापार ही वस्तुतः पूर्ण योग है। परन्तु इस योग का स्वरूप पतंजलि ने 'चित्तवृत्तिनिरोध'[३१] शब्द से मुख्यतया अभावात्मक सूचित किया है, जबकि बौद्ध-परम्परा ने 'कुशलचित्त की एकाग्रता या उपसम्पदा'[३२] जैसे शब्दों के द्वारा प्रधान रूप से भावात्मक सूचित किया है। ऊपर-ऊपर से देखनेवाले को ये लक्षण कुछ विरोधी से प्रतीत हो सकते हैं, परन्तु वस्तुतः इनमें कोई भी विरोध नहीं है। एक ही वस्तु के दो पहलुओं को गौण-मुख्यभाव से बतलाने के ये दो प्रयत्न हैं–मानो यह भाव सूचित करने के लिए ही हरिभद्र ने पातंजल और बौद्ध-परम्परा द्वारा मान्य दोनों लक्षणों का तुलना की दृष्टि से निर्देश किया है और अन्त में जैनसम्मत लक्षण में उपर्युक्त दोनों लक्षणों का दृष्टिभेद से समावेश सूचित किया है। यह

---

२८. योगसूत्र १.३३

२९. तत्त्वार्थसूत्र ७.६

३०. अहवा ओहेणं चिय भणियविहाणाओ चेव भावेज्जा।
सत्ताइएसु मित्ताइए गुणे परमसंविग्गो॥
सत्तेसु ताव मेत्तिं तहा पमोयं गुणाहिएसुं ति।
करुणामज्झत्थत्ते किलिस्समाणाविणीएसु॥
—योगशतक, ७८-९

३१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। —योगसूत्र १.२

३२. सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥
—धम्मपद, १४.५

लक्षण उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों में दिया है। उनका अभिप्रेत लक्षण ऐसा है : जो धर्मव्यापार मोक्षतत्त्व के साथ सम्बन्ध जोड़े वह योग।[३३] उनका यह लक्षण सर्वग्राही होने से उसमें निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों स्वरूप समा जाते हैं।

योगविंशिका

वसुबन्धु ने विज्ञानवाद का निरूपण करने के लिए विंशिका और त्रिंशिका जैसे ग्रन्थ लिखे है। जिसका परिमाण बीस पद्यका हो वह विंशिका। हरिभद्र ने ऐसी रचनाओं का अनुकरण करके विंशिकाएँ लिखी है। उन्होंने वैसी बीस विंशिकाएँ रची है और वे सब प्राकृत में है। इन विंशिकाओं का संस्कृत छाया तथा अंग्रेजी सार के साथ सम्पादन प्रो० अभ्यंकर ने किया है। ये विंशिकाएँ कॉलेज के पाठ्यक्रम में भी थीं। इन बीस विंशिकाओं में से योगविंशिका सत्रहवीं है। इन सब विंशिकाओं के ऊपर किसी विद्वान् ने टीका लिखी थी या नहीं यह अज्ञात है; परन्तु मात्र योग-विंशिका के ऊपर संस्कृत टीका मिलती है, जिसके रचयिता उपाध्याय श्री यशोविजयजी हैं। उन्होंने अपनी एक गुजराती कृति में 'जोजो जोगनी वीशी रे'[३४] कहकर उसका सादर उल्लेख किया है। उन्होंने योगविंशिका के ऊपर जो संस्कृत टीका लिखी है वह उसके मूल हार्द को अत्यन्त स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करती है और प्रासंगिक चर्चा में

---

३३. मुक्खेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवावारो ।
परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेणं ॥
–योगविंशिका, १

अतस्त्वयोगो योगानां योगः पर उदाहृतः ।
मोक्षयोजनभावेन सर्वसन्यासलक्षणः ॥
–योगदृष्टिसमुच्चय, ११

निच्छयओ इह जोगो सन्नाणाईण तिण्ह संबंधो ।
मोक्खेण जोयणाओ निद्दिट्ठो जोगिनाहेहिं ॥
ववहारओ य एसो विन्नेओ एयकारणाणं पि ।
जो सम्बन्धो सो वि य कारणकज्जोवयाराओ ॥
–योगशतक २ और ४

अध्यात्म भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद् योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥
–योगबिन्दु, ३१

पांचरात्रो के 'परमसंहिता' नामक ग्रन्थ में भी 'योग' का अर्थ 'जोड़ना' किया है। देखो दासगुप्ता : हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन फिलोसॉफ़ी, भाग ३, पृ० २२।

जैन आगम में समाधि के अर्थ में भी योग शब्द का प्रयोग हुआ है; जैसे कि– 'वसे गुरुकुले निच्चं जोगवं उवहाणव'–उत्तराध्ययनसूत्र ११.१४।

३४. देखो 'साडा त्रण सो गाथानुं श्री सीमन्धर जिन स्तवन' ढाल १, कड़ी ५।

उपाध्यायजी अपनी तर्कशैलीका भी योग्य उपयोग करते हैं। समग्रतया यह टीका उक्त विंशिका के[३५] अनुशीलन के लिए बहुत उपयोगी है।

योगशतक जिनभद्र के ध्यानशतक तथा पूज्यपाद के समाधिशतक जैसी शत-पद्यपरिमाण रचनाओं का अनुकरण है। इसमें आये हुए १०१ पद्य आर्या छन्द में हैं। १६२२ ई० में मैंने जब इसका उल्लेख किया था उस समय वह उपलब्ध नहीं था। कुछ वर्ष पूर्व उसकी एक ताड़पत्रीय प्रति संशोधक विद्वान् मुनि श्री पुण्यविजयजी को मिली। उसके आधार पर उस ग्रन्थ का सम्पादन डॉ. इन्दुकला झवेरी ने किया है और वह गुजरात विद्यासभा ने १६५६ ई० में प्रकाशित किया है।[३६] मूल का अर्थ, तुलनात्मक विवेचन, महत्त्व के मुद्दों पर अनेक परिशिष्ट तथा विस्तृत प्रस्तावना के कारण यह संस्करण ग्रन्थ के हार्द को समझाने के साथ योगतत्त्व और योग-साहित्य के विषय में बहुत सी जानकारी प्रस्तुत करता है।

जब गुजराती विवेचन किया गया और प्रस्तुत व्याख्यान लिखे गये तब योग-शतक की टीका का कोई पता न था, पर अभी हाल ही में उसकी संस्कृत टीका उपलब्ध हुई है, जो स्वोपज्ञ है। वह है तो संक्षिप्त, किन्तु स्वोपज्ञ होने से बहुत महत्त्व की है। इसकी एकमात्र ताड़पत्रीय प्रति मांडवी (कच्छ) के खरतरगच्छीय ज्ञानभण्डार से प्राप्त हुई है। उसका लेखन-समय वि. सं. ११६५ है। उसका पोथी नं० ३८ और प्रति नं० १३४ है। अभी वह टीका अमुद्रित है, परन्तु उसकी फोटोस्टेट कॉपी श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद में है। इसकी प्राप्ति का श्रेय मुख्यतया मुनि श्री पुण्यविजयजी को है।

---

३५. सटीक 'योगविंशिका' का हिन्दी सार मैंने अनेक वर्ष पहले लिखा था। वह 'पातंजल योगदर्शन तथा हारिभद्री योगविंशिका' नामक पुस्तक में ई. स. १६२२ में प्रकाशित हुआ है। उसमें 'योगविंशिका के अतिरिक्त पातंजल योगसूत्रों की उपाध्याय यशोविजयजी की संस्कृत वृत्ति भी हिन्दी सार के साथ छपी है। इसके अतिरिक्त इसका गुजराती विवेचन आचार्य ऋद्धिसागरजी ने किया है और वह 'योगानुभव सुखसागर तथा श्री हरिभद्रकृत योग-विंशिका' नाम की पुस्तक में छपा है। यह पुस्तक श्रीमद् बुद्धिसागरसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, बीजापुर (उत्तर गुजरात) ने प्रकाशित की है।

३६. इसका हिन्दी अनुवाद भी गुजरात विद्यासभा ने प्रकाशित किया है।

व्याख्यान पाँचवाँ

योग-परम्परा में आ० हरिभद्र की विशेषता–२

आचार्य हरिभद्र ने योग-परम्परा में कौन-कौनसा और कैसा-कैसा वैशिष्ट्य लाने का प्रयत्न किया है इसके बारे में चौथे व्याख्यान में उनके दो प्राकृत ग्रन्थों को लेकर संक्षेप में संकेत किया गया है, परन्तु योगपरम्परा में उनका असाधारण वैशिष्ट्यपूर्ण अर्पण तो उनके उपलब्ध दो संस्कृत ग्रन्थों के द्वारा ही जाना जा सकता है। वे दो ग्रन्थ हैं : योगबिन्दु और योगदृष्टिसमुच्चय। इन दो ग्रन्थों में उन्होंने योग-तत्त्व का ही सांगोपांग निरूपण किया है। उन्होंने इन संस्कृत ग्रन्थों के अतिरिक्त भी दूसरे 'षोडशक' आदि अनेक प्रकरण-ग्रन्थों में योगतत्त्व की थोड़ी-बहुत चर्चा तो की ही है, परन्तु प्रस्तुत दो ग्रन्थ उनकी योगचर्चा-विषयक छोटी-बड़ी सभी कृतियों से सर्वथा अलग से पड़ते है; इतना ही नहीं, उनके समय तक भिन्न-भिन्न धर्म-परम्पराओं ने योग-विषयक जो साहित्य रचा है और जो उपलब्ध है तथा जो मेरे देखने में आया है, उस समग्र साहित्य की दृष्टि से भी हरिभद्र की प्रस्तुत दो कृतियों का खास निराला स्थान है। जैन और जैनेतर सभी ज्ञात परम्पराओं की योग-विषयक कृतियों से हरिभद्र की प्रस्तुत कृतियों का स्थान कुछ अनोखा है—ऐसा जब कहना हो तब उसके समर्थक थोड़े भी सबल आधारों का निरूपण करना ही चाहिए। इस विचार से इस अन्तिम और पंचम व्याख्यान में वैसे आधारों की चर्चा करने का सोचा है।

प्राचीन जैन आगमों में प्रतिपादित योग एवं ध्यान विषयक समग्र विचार-सरणी से तो हरिभद्र सुपरिचित थे ही; साथ ही वे सांख्य-योग, शैव-पाशुपत और बौद्ध आदि परम्पराओं के योग-विषयक प्रस्थानों से भी विशेष परिचित और जानकार थे। इससे उनके समय तक में शायद ही दूसरे किसी को सूझा हो वैसा एक विचार उन्हें आया हो ऐसा मालूम होता है। वह विचार है : भिन्न भिन्न परम्पराओं में योग-तत्त्व के विषय में मात्र मौलिक समानता ही नहीं, किन्तु एकता भी है; ऐसा होने पर भी उन परम्पराओं में परस्पर जो अन्तर माना या समझा जाता है उसका निवारण करना। हरिभद्र ने देखा कि सच्चा साधक चाहे जिस परम्परा का हो, उसका आध्यात्मिक विकास तो एक ही क्रम से होता है; उसके तारतम्ययुक्त सोपान अनेक

सम्भव हैं, परन्तु विकास की दिशा तो एक ही होती है। अतएव भले ही उसका निरूपण भिन्न-भिन्न परिभाषाओं में हो और उसकी शैली भी भले ही भिन्न हो, परन्तु उस निरूपण का आत्मा तो एक ही होगा। उनकी यह दृष्टि अनेक योग-परम्पराओं के प्रतिष्ठित ग्रन्थों के पूर्ण और यथार्थ अवगाहन के फलस्वरूप बनी मालूम होती है। इसीलिए उन्होंने निश्चय किया कि मैं ऐसे ग्रन्थ लिखूँ जो सुलभ सभी योगशास्त्रों के दोहनरूप हों और जिनमें किसी एक ही सम्प्रदाय में रूढ़ परिभाषा या शैली का आश्रय न लेकर नयी परिभाषा और नयी शैली की इस प्रकार आयोजना की जाय जिससे कि अभ्यस्त सभी योग परम्पराओं के योग-विषयक मन्तव्य किस तरह एक हैं अथवा एक-दूसरे के अतिनिकट हैं यह बतलाया जा सके और विभिन्न सम्प्रदायों में योगतत्त्व के बारे में जो पारस्परिक अज्ञान प्रवर्तमान हो उसे यथासम्भव दूर किया जा सके। ऐसे उदात्त ध्येय से उन्होंने प्रस्तुत दो ग्रन्थों की रचना की है।

हम उन्हीं के उद्गारों में उनके इस उदात्त ध्येय को सुनें—

अनेकयोगशास्त्रेभ्यः संक्षेपेण समुद्धृतः।
दृष्टिभेदेन योगोऽयमात्मानुस्मृतये परः॥ २०५ ॥—योगदृष्टिसमुच्चय
सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः।
सन्नीत्या स्थापकं चैव मध्यस्थांस्तद्विदः प्रति॥ २॥—योगबिन्दु

इस दूसरे श्लोक में मध्यस्थ योगज्ञ को उद्दिष्ट करके कहा है कि योगबिन्दु सभी योगशास्त्रों का अविरोधी अथवा विसंवादरहित स्थापन करनेवाला एक प्रकरण है। इस कथन में तीन बातें मुख्य हैं: (१) मध्यस्थ और वह भी योगज्ञ। (२) सभी योग-शास्त्रों का तात्त्विक दृष्टि से अविरोध। इस कथन में सम्भावित सभी योगशास्त्रों के हरिभद्र द्वारा अवगाहन किये जाने की सूचना है। ऐसा अवगाहन दूसरे किसी ने किया हो तो उसका ऐसा स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि सभी अच्छे शास्त्रों में समान विषयवाले ग्रन्थों का अवगाहन होता ही है, तथापि पातंजल अथवा बौद्ध आदि कोई ऐसा योगशास्त्र नहीं है जिसमें लभ्य सर्व योगशास्त्रों का दोहन करके उनमें तात्त्विक रूप से अविरोध बतलाया गया हो अर्थात् तुलना की गई हो। (३) 'तत्त्वतः' और 'अविरोध' ये दो पद अर्थवाही हैं। शाब्दिक अथवा स्थूल विरोध महत्त्व का नहीं है; जो विरोध मूलगामी हो वही विरोध कहा जा सकता है। हरिभद्र कहते हैं कि योगशास्त्रों में जो मूलगामी अविरोधी वस्तु है उसका यहाँ स्थापन किया गया है और वह भी योगज्ञ मध्यस्थों को लक्ष्य में रखकर; दूसरे के लिए ऐसा स्थापन कार्य-

साधक नहीं होता। उनका 'पक्षपातो न मे वीरे'[1] यह उद्गार स्वाभाविक है, जो यहाँ भी 'मध्यस्थ' पद से सूचित होता है।

योगदृष्टिसमुच्चय और योगबिन्दु

योगदृष्टिसमुच्चय में २२८ पद्य हैं, जबकि योगबिन्दु में ५२७ पद्य हैं। ये सभी पद्य अनुष्टुप् छन्द में हैं। योगदृष्टिसमुच्चय की व्याख्या संक्षिप्त है, परन्तु वह स्वोपज्ञ है; जबकि योगबिन्दु की व्याख्या स्वोपज्ञ होगी तो भी वह ज्ञात नहीं है और जो व्याख्या उपलब्ध है वह अन्यकर्तृक है। यद्यपि उसके कर्ता का नाम अज्ञात है, लेकिन समुच्चय रूप से देखने पर वह व्याख्या बहुत स्पष्ट है। अलबत्ता, उसमें मूल ग्रन्थ का आशय समझाने का ठीक ठीक प्रयत्न देखा जाता है, फिर भी उसमें कहीं कहीं सम्प्रदाय की छाप दिखाई पड़ती है।

आत्मा, चेतन, जीव या चित्त तत्त्व का चेतना के रूप में स्वतंत्र अस्तित्व, उसकी साहजिक शुद्धि और फिर भी क्लेश एवं अज्ञान की वृत्तियों से शुद्धि का आवरण, इस आवरण के क्रमिक ह्रास द्वारा अन्त में पूर्ण क्षय की शक्यता तथा उसी ह्रास-क्रम से शुद्धि का विकासक्रम, आवरणों के निवर्तक एवं विकासक्रम के साधक अनेक उपायों का जीवन में अनुभव तथा उसकी कार्यक्षमता—ये योगतत्त्व अथवा अध्यात्म-साधना के मूलभूत सिद्धान्त हैं। इन सिद्धान्तों के बारे में किसी भी योग-परम्परा की विप्रतिपत्ति या मत-विरोध नहीं है; फिर भले ही उनके ब्योरे में कहीं मतभेद देखा जाता हो। इसीलिए हरिभद्र ने इन मौलिक तत्त्वों को केन्द्र में रखकर उनकी अपनी कही जा सके ऐसी परिभाषा की योजना की है और इसीके फलस्वरूप उनकी निरूपण-शैली भी उन्हीं की अपनी बन पड़ी है। विशेषता तो यह है कि दोनों ग्रन्थों में भी उन्होंने एक ही परिभाषा नहीं अपनाई। ऐसा लगता है कि उनके मन में योगतत्त्व का एक ऐसा अनुभव-रसायन तैयार हुआ था, जो भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त हुए बिना रह ही नहीं सकता था।

---

१. पक्षपातो न वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ ३८ ॥ —लोकतत्त्वनिर्णय

इसके साथ तुलना करो—

अपि पौरुषमादेयं शास्त्रं चेद्युक्तिबोधकम्।
अन्यत्त्वार्षमपि त्याज्यं भाव्यं न्याय्यैकसेविना ॥ २ ॥
युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अन्यत्तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना ॥ ३ ॥

—योगवासिष्ठ, प्रकरण २, अध्याय १८

योगदृष्टिसमुच्चय में योग–विकास के क्रम से सम्बन्ध रखनेवाली पहली परिभाषा तीन विभागों में दी गई है : (१) इच्छायोग (२) शास्त्रयोग और (३) सामर्थ्ययोग[२]। इसके पश्चात् आगे जाकर इस योगतत्त्व का निरूपण आठ दृष्टियों अथवा बोध के आठ प्रकार के[३] तारतम्ययुक्त चढ़ा-उतरी के क्रम में किया गया है, जब कि योगबिन्दु में योगतत्त्व को पांच भागों में[४] विभक्त करके उसका सम्पूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है। दोनों ग्रन्थों की परिभाषा को समझाते समय उस-उस योग-भूमिका से सम्बद्ध आवश्यक सभी बातें उन्होंने दी हैं। इन बातों का निर्देश करते समय उन्होंने खास ध्यान यह रखा है कि उस मुद्दे के विषय में भिन्न-भिन्न योग-परम्परा के आचार्य किस तरह एकमत हैं और वे सब शब्दभेद से किस तरह एक ही वस्तु कहते हैं। सांख्य-योग, शैव-पाशुपत, बौद्ध और जैन– इतनी परम्पराओं के योगाचार्य और उनके अनेक ग्रन्थ हरिभद्र की दृष्टि के समक्ष थे ही। हरिभद्र प्रसिद्ध योगसूत्रकार पतंजलि को भगवान् पतंजलि कहते हैं, जो कि एक सांख्य योगाचार्य हैं। वे भास्करबन्धु का भदन्त के नाम से निर्देश करते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि वे बौद्धाचार्य होंगे। भगवद्दत्त के नाम से निर्दिष्ट आचार्य सम्भवतः शैव या पाशुपत होने चाहिए[५]। वे गोपेन्द्र के वचन का बहुमानपूर्वक उल्लेख करते हैं और उस स्थान पर कहते हैं कि मैं जो वस्तु

---

२. कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः।
विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते ॥
शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यप्रमादिनः।
श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा ॥
शास्त्रसन्दर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः ।
शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, ३–५

३. मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, १३

४. अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद् योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥
—योगबिन्दु, ३१

५. सतां मुनीनां भगवत्पतंजलिभदन्तभास्करबन्धुभगवद्दत्तादीनां योगिनामित्यर्थः।
—योगदृष्टिसमुच्चयटीका, १६

कहना चाहता है वही वस्तु गोपेन्द्र भी कहते हैं[६]। गोपेन्द्र के कथन के उद्धरण पर से यह तो निश्चित है कि वे एक सांख्य-योगाचार्य हैं। हरिभद्र के ग्रन्थ के अतिरिक्त दूसरे किसी आधार-से इन सांख्याचार्य का नाम अथवा अवतरण आज तक ज्ञात नहीं है। कालातीत[७] नामक एक अन्य योगाचार्य का भी उन्होंने निर्देश किया है और उनका वचन उद्धृत करके अपने विचार के साथ उसकी तुलना भी की है। कालातीत किस परम्परा के होंगे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु 'अतीत' शब्द का सम्बन्ध देखने से शायद वे शैव, पाशुपत अथवा अवधूत जैसी किसी परम्परा के होंगे, ऐसी कल्पना होती है। उन्होंने एक स्थान पर 'समाधिराज'[८] पद का उल्लेख किया है। 'समाधि' के साथ 'राज' पद को देखकर उसके अज्ञात टीकाकार को ऐसा भासित हुआ कि 'समाधिराज' अर्थात् सब समाधियों मे अन्तिम और मुकुट के जैसी प्रधान समाधि[९]। परन्तु उपलब्ध योग-साहित्य के स्वल्प परिचय से मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि हरिभद्र द्वारा प्रयुक्त 'समाधिराज' पद एक ग्रन्थविशेष का बोधक है। वह ग्रन्थ 'समाधिराज' के नाम से प्रसिद्ध है तथा अतिप्राचीन है। इस ग्रन्थ का तथा इसकी प्राप्ति का इतिहास अत्यन्त रोमांचक है। यह ग्रन्थ कनिष्क के समय जितना तो प्राचीन है ही। चीनी भाषा में भिन्न-भिन्न समय में इसके तीन अनुवाद हुए हैं और वे मिलते भी हैं। इसका चौथा अनुवाद भोट-भाषा में हुआ है। मूल ग्रन्थ परिमाण में छोटा था, परन्तु धीरे-धीरे वह बढ़ता गया है। भोट-भाषा में जो अनुवाद है वह तो मूल

---

६. तथा चान्यैरपि ह्येतद्योगमार्गकृतश्रमैः।
संगीतमुक्तिभेदेन यद् गौपेन्द्रमिदं वचः॥
अनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ सर्वथैव हि।
न पुंसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिञ्जिज्ञासाऽपि प्रवर्तते॥
—योगबिन्दु, १००-१

७. माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैवमैदम्पर्यव्यपेक्षया।
तत्त्वं निरूपणीयं स्यात् कालातीतोऽप्यदोऽब्रवीत्॥
—योगबिन्दु, ३००

८. समाधिराज इत्येतत् तदेतत्तत्त्वदर्शनम्।
आग्रहच्छेदकार्येतत् तदेतदमृतं परम्॥-योगबिन्दु ४५९

९. 'समाधिराजः प्रधानः समाधिः'—योगबिन्दुटीका, ४५९

योगबिन्दु (श्लोक ४५८) में नैरात्म्यदर्शन से मुक्ति माननेवाले किसी अन्य की चर्चा के प्रसग में 'समाधिराज' (श्लोक ४५९) का उल्लेख आता है; अतः वहाँ 'समाधिराज' ग्रन्थ ही हरिभद्र को विवक्षित है। 'समाधिराज' में नैरात्म्यदर्शनकी चर्चा है। देखो 'समाधिराज' परिवर्त ७, श्लोक २८-२९।

ग्रन्थ के अन्तिम परिवर्धित संस्करण का अनुवाद है। यह अन्तिम परिवर्धित 'समाधिराज' नेपाल में मूल रूप में ही मिलता है। इसकी भाषा संस्कृत है, परन्तु 'ललितविस्तर' और 'महावस्तु' आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त भाषा की तरह संस्कृत-प्राकृत मिश्र है। यह ग्रन्थ भारत में तो उपलब्ध नहीं था, परन्तु गिलगिट के प्रदेश में से एक चरवाहे के लड़के को भेड़-बकरी चराते समय वह, दूसरे कई ग्रन्थों के साथ, मिला था। इन ग्रन्थों का सम्पादन कलकत्ता विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ. नलिनाक्षदत्त ने किया है और विस्तृत भूमिका भी अंग्रेजी में दी है। चीन और तिब्बत में इस ग्रन्थ का पहले ही से जाना, वहां उसकी प्रतिष्ठा जमना, काश्मीर के एक प्रदेश में से उसकी प्राप्ति, कनिष्क के समय तक हुई तीन धर्मसंगीतियों का उसमें निर्देश, उसमें प्रयुक्त प्राकृतमिश्रित संस्कृत भाषा तथा उसमें लिया गया शून्यवाद का आश्रय— यह सब देखने पर ऐसा अनुमान होता है कि यह 'समाधिराज' काश्मीर के किसी प्रदेश में नहीं तो फिर पश्चिमोत्तर भारत के किसी भाग में रचा गया होगा।

समाधिराज की प्रतिष्ठा और प्रचार ऐसा होगा कि हरिभद्र के जैसे जैनाचार्य का ध्यान भी उसकी ओर आकर्षित हुआ। हरिभद्र जब सब योगशास्त्रों के आकलन की बात कहते है, तब उपर्युक्त कई योगाचार्यों के नाम तथा कई अज्ञात ग्रन्थों के निर्देश उनके इस कथन की यथार्थता सिद्ध करते हैं। एक हरिभद्र ही ऐसे हैं जिनके योग-विषयक इन दो ग्रन्थों में, अन्य किसी के योग-ग्रन्थ में उपलब्ध न हो वैसी, ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक सामग्री मिलती है।

जीवन के दो प्रवाह: एक भोग और दूसरा योग। प्राणिमात्र में जो बहिर्मुख इन्द्रियानुसरणवृत्ति है उसका अनुसरण करना अनुस्रोतोवृत्ति अथवा भोगप्रवाह है, जब कि वैसी वृत्ति से उल्टी दिशा में अन्तर्मुख होकर प्रयत्न करना योग अथवा प्रतिस्रोतोवृत्ति है। इन दो प्रवाहों या वृत्तियों के बीच की सीमा ऐसी होती है जिसमें साधक क्षण में भोगाभिमुख और क्षण में योगाभिमुख भी बनता है। योगाभिमुखता सच्चे अर्थ में सिद्ध करनी हो तो अनेक उपायों का अवलम्बन लेना पड़ता है। उनमें से एक उपाय है वैराग्य। सामान्यतः वैराग्य एक आवश्यक उपाय माना गया है, फिर भी उसकी समझ के बारे में तारतम्य रहा ही है और उसके कारण वैराग्य को आचरण में उतारने के अनेक मार्ग भी खोजे गये हैं। आँख, कान आदि इन्द्रियों को आकर्षित करने वाले स्त्री, पुत्र, धन आदि हैं, तो इन आकर्षक पदार्थों का परित्याग ही वैराग्य है— ऐसी समझ में से घर-बार तथा धन-धान्य आदि के त्याग का मार्ग शुरू हुआ। ऐसे त्याग के लिए उन-उन आकर्षक पदार्थों में अनेक दोषों की कल्पना की

गई और उस विषय का अकल्प्य और बहुत बार तो प्रतिक्रिया पैदा करे ऐसा विशाल साहित्य रचा गया। इस तरह का साहित्य सभी भारतीय त्याग-प्रधान परम्पराओं में है। इसके विरुद्ध वैराग्य के बारे में एक दूसरा विचार ऐसा पैदा हुआ कि तथाकथित आकर्षक पदार्थों का परित्याग किया जाय अथवा उनमें फँसने वाली नेत्र आदि इन्द्रियों को रोका जाय, तो भी मन में उन पदार्थों की स्मृति होने पर राग उत्पन्न होगा ही; और यदि राग हो तो प्रतिकूल पदार्थों में द्वेष का आविर्भाव अनिवार्य है। अतः बाह्य पदार्थों के मात्र त्याग से वैराग्य सिद्ध नहीं हो सकता। इस विचार ने अनेक साधकों को प्रेरित किया। उनमें से कतिपय साधकों ने मनोजय करने के लिए मन को मारने का साधन ढूँढ निकाला। वह साधन यानी येन केन प्रकारेण मन को कुण्ठित अथवा निष्क्रिय बनाना। इसके लिए हठयोग में कुछ प्रणालिकाएँ भी दाखिल हुईं तथा अबूझ साधकों ने भावावेश में आकर मादक पेय एवं खाद्याखाद्य के विवेकशून्य उपयोग का भी आश्रय लिया। यह प्रथा भी चल पड़ी और इस समय भी सर्वथा बन्द हुई है ऐसा कह नहीं सकते; परन्तु विशेष विचारक साधकों ने देखा और कहा कि मन को मारने का अर्थ उसे कुण्ठित या निष्क्रिय बनाना नहीं है, किन्तु उस मन को गतिशील रखकर उसमें राग, द्वेष एवं अज्ञान के जो मल और उनके जो स्तर जमे हों उन्हें दूर करना और उन मलों से आवृत चित्त की अथवा जीवन की विशुद्ध शक्तियों को उद्बुद्ध करके उन्हें ऊर्ध्वगामी मार्ग की ओर प्रेरित करना— यही सच्चा अर्थात् परवैराग्य है। हरिभद्र ऐसे परवैराग्य के पूर्ण समर्थक हैं, इसलिए उनके प्रस्तुत दो ग्रन्थों में न तो आकर्षक स्त्री, पुत्र आदि का दोष-दर्शन देखा जाता है और न मन को निष्क्रिय करने का एक भी सूचन है। उन्होंने तो परवैराग्य को ध्यान में रखकर इन दोनों ग्रन्थों में योगतत्त्व की अपनी रूपरेखा उपस्थित की है।

योगदृष्टिसमुच्चय में उन्होंने वैसी रूपरेखा का निर्देश दो तरह से किया है: पहली इच्छायोग, शास्त्रयोग एवं सामर्थ्ययोग के रूप में[१०] तथा दूसरी मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा जैसी आठ दृष्टियों के रूप में[११]। पहली रूपरेखा संक्षिप्त है। उसके द्वारा हरिभद्र कहते हैं कि योगतत्त्व की ओर अभिमुख होना– यह प्रथम सोपान यानी इच्छायोग है। आध्यात्मिक वृत्ति को जीवन में उतारने के लिए अनुभवी योगियों के वचन का अथवा उनके साक्षात् उपदेश का सहारा लेना– यह द्वितीय सोपान यानी शास्त्रयोग है। अनुभवी के निर्देशन तथा अपने उत्साह

---

१०. 'योगदृष्टिसमुच्चय' ३–५।

११. वही, १३।

एवं पुरुषार्थ के द्वारा स्वाधीन सामर्थ्य आत्मसात् करना– यह तृतीय सोपान अर्थात् सामर्थ्ययोग है। इस तीसरे योग में पहुँचनेवाला फिर शास्त्रयोग अथवा परावलम्बन की अपेक्षा नहीं रखता। इसका अर्थ यह नहीं है कि शास्त्रयोग उपयोगी नहीं है; इसका अर्थ इतना ही है कि वह सामर्थ्ययोग की भांति अतीन्द्रिय आध्यात्मिक वस्तुओं की प्रतीति पूर्णतया और विशेष रूप से नहीं करा सकता, परन्तु वैसे सामर्थ्ययोग में प्रवेश पाने की प्रारम्भिक तैयारी के समय उसका भी उसकी निश्चित मर्यादा में अधिकारी-विशेष के लिए उपयोग है ही। श्री अरविन्द ने Synthesis of Yoga नामक अपनी पुस्तक के Four Aids नाम के प्रथम प्रकरण में 'शब्दब्रह्माऽतिवर्तते' की जो बात कही है और जिसका महाभारत एवं उपनिषद् में भी निर्देश है, वही बात हरिभद्र ने 'सामर्थ्ययोग' शब्द से सूचित की है।

यह हुई संक्षिप्त रूपरेखा। परन्तु हरिभद्र ने इस रूपरेखा का विशेष विस्तार आठ दृष्टि के निरूपण के द्वारा किया है। दृष्टि अर्थात् तत्त्वलक्षी बोध। ऐसा बोध एकाएक पूर्ण रूप से शायद ही किसी व्यक्ति में प्रकट होता हो। पूर्ण कला पर पहुँचने से पूर्व उसे असंख्य भूमिकाओं में से गुज़रना पड़ता है। इनमें से अन्तिम भूमिका का परादृष्टि के नाम से निर्देश करके और इसके पहले की असंख्य भूमिकाओं को सात भागों में विभक्त करके उन्होंने उनका सात दृष्टि के रूप में वर्णन किया है। इन आठ दृष्टियों में से भी पहली चार तो एक तरह से भोग और योग की सीमा जैसी हैं, जब कि अन्तिम चार योग की पक्की नींव जमने के बाद की हैं। पहली चार का निर्देश उन्होंने 'अवेद्यसंवेद्य' पद से किया है, जब कि दूसरी चार का उल्लेख 'वेद्यसंवेद्य' पद से किया है।[१२] हरिभद्र कहते हैं कि योगतत्त्व के मूल सिद्धान्त रूप जो चेतन के स्वतंत्र अस्तित्व आदि तत्त्व हैं वे अतीन्द्रिय हैं। इनका अटल निश्चय मात्र शास्त्रश्रवण जैसे उपायों से भी सुसाध्य नहीं है। इसके लिए साधक को सत्समागम, शास्त्रश्रवण जैसे मार्गों के अतिरिक्त स्वयं ऊह या गहरा मनन करना आवश्यक है। जब तक उन अतीन्द्रिय तत्त्वों की पक्की प्रतीति न हो, तब तक साधक, योग की दिशा में हो तो भी, वेद्यसंवेद्य पद को न जानने से अवेद्यसंवेद्य पद की भूमिका में है; परन्तु जब उसे अपने स्वतंत्र चैतन्य आदि अतीन्द्रिय तत्त्वों की अक्षोभ्य प्रतीति होती है तब वह वेद्यसंवेद्य पद की भूमिका में आता है। इस प्रकार उन्होंने योग की पक्व भूमिका तथा उसके पहले की अपक्व अथवा अस्थिर भूमिका का निरूपण तो किया, परन्तु उनके समक्ष मूल प्रश्न तो यह है कि भोगाभिमुखता से पराङ्मुख होने की प्रारम्भिक स्थिति से लेकर

१२. 'योगदृष्टिसमुच्चय' श्लोक ७० की टीका।

उसके विकास की अगली सभी भूमिकाओं के तारतम्य का मूल कारण क्या है? इन कारणों का निरूपण ही योग-दृष्टियों के निरूपण का हार्द है।

शारीरिक एवं प्राणमय जीवन के अभ्यास के कारण चेतन अपने सहज समत्व-केन्द्र का परित्याग करता है और वह वैसे जीवनोपयोगी अन्य पदार्थों में अपने अस्तित्व का आरोपण करने लगता है। यह उसका स्वयं अपने बारे में मोह या अज्ञान है। यह अज्ञान ही उसे समत्व-केन्द्र में से च्युत करके इतर परिमित वस्तुओं में रस लेने वाला बना देता है। यह रस ही राग-द्वेष जैसे क्लेशों का प्रेरक तत्त्व है। इस तरह चेतन या चित्त का वृत्तिचक्र अज्ञान एवं क्लेशों के आवरण से इतना अधिक आवृत एवं अवरुद्ध हो जाता है कि उसके कारण जीवन प्रवाह-पतित ही बना रहता है। अनेक ज्ञात-अज्ञात बलों से जब इस अनुस्रोतोवृत्ति का भेदन होता है तब चेतन समत्व-केन्द्र की ओर अभिमुख होता है। जितने परिमाण में वह समत्व-केन्द्र की ओर प्रगति करता है उतने परिमाण में उसका क्लेशमल क्षीण होता जाता है, और जैसे-जैसे क्लेश-मल क्षीण होता जाता है वैसे-वैसे वह अज्ञान को भी दुर्बल बनाता जाता है। यह हुई प्रतिस्रोतोवृत्ति। अज्ञान, अविद्या अथवा मोह, जिसे ज्ञेयावरण भी कहते हैं, वस्तुतः चेतनगत समत्व-केन्द्र को ही आवृत करता है, जब कि उसमें से पैदा होनेवाला क्लेशचक्र बाह्य वस्तुओं में ही प्रवृत्त रहता है। अज्ञान एवं उससे पोषित क्लेश-चक्रका बढ़ता जानेवाला ह्रास—यही ऊपर सूचित भूमिकाओं के तारतम्य का कारण है। हरिभद्र इसी को जैन परिभाषा में योग्यताभेद अथवा क्षयोपशमविशेष कहते हैं। ऐसे योग्यताभेदको समझाने के लिए उन्होंने कई दृष्टान्त देकर यह बतलाया है कि एक ही दृश्यको एक ही द्रष्टा परिस्थितिवश, स्वातंत्र्य-पारतंत्र्यवश, उम्रकी भिन्नता के कारण अथवा इन्द्रियवैगुण्यकी वजह से किस प्रकार अनेकरूप देखता है। हरिभद्र की यह दृष्टान्त-योजना बाह्य इन्द्रिय के प्रदेश तक सीमित है, परन्तु उसके द्वारा उन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान एवं अज्ञान का तारतम्य कैसे होता है यह सूचित किया है।

हरिभद्रके ये दृष्टान्त सब समझ सकें ऐसे और रोचक भी हैं। कोई द्रष्टा[१३] समीपस्थ दृश्य पदार्थ को मेघाच्छन्न अथवा मेघशून्य रात्रि में देखे, बादल से घिरे हुए

---

१३. 'योगदृष्टिसमुच्चय' में—

समेघामेघरात्र्यादौ सग्रहाद्यर्भकादिवत्।
ओघदृष्टिरिह ज्ञेया मिथ्यादृष्टीतराश्रया ॥१४॥

इस प्रकार हरिभद्र ने दर्शनभेद समझाने के लिए आगम, भाष्य, चूर्णि आदि जैन-शास्त्रीय परम्परा में प्रसिद्ध मेघावृत और मेघानावृत चन्द्र-सूर्य के दृष्टान्तोंका विस्तार करके मित्रा आदि आठ दृष्टियो का निरूपण किया है। बौद्ध परम्परामें इसी तरह मेघावृत और

अथवा बादलरहित दिन के समय देखे, चित्तभ्रम की स्थिति में अथवा उससे मुक्त दशा में देखे, बाल्य अथवा वैसी अपक्व आयु में या परिपक्वावस्था में देखे, वही द्रष्टा पीलिया या वैसे किसी रोग से ग्रस्त नेत्रों से अथवा नीरोग नेत्रों से देखे, तो उस दृश्य के एवं द्रष्टा के एक होने पर भी उसके दर्शन में अनेकविध तारतम्य होता है। इसी प्रकार जीव वही का वही होता है, और उसका जीवन या प्रवृत्तिक्षेत्र भी वही का वही होता है, फिर भी उस पर के ज्ञेयावरण एवं क्लेशावरण की तीव्रता-मन्दता के तारतम्य के कारण उसके आन्तरिक दर्शन में तारतम्य आता है और वही तारतम्य, मतभेद अथवा विचारभेद का बीज होने से अन्त में दर्शनभेद में परिणत होता है। हरिभद्र कहते हैं कि ऐसा दर्शनभेद अनिवार्य है। इस अनिवार्यता के होते हुए भी उसमें चार भूमिकाओं तक दृढ़ अभिनिवेश रहता है, जिसके फलस्वरूप विवाद एवं कुतर्क चला करते हैं; परन्तु पांचवीं भूमिका या स्थिरा दृष्टि से लेकर आगे की भूमिकाओं में

मेघानावृत चंद्र-सूर्य के दृष्टान्त द्वारा क्लिष्ट-अक्लिष्ट प्रज्ञारूप आठ दृष्टियों का निरूपण आता है, जो वसुबन्धुके सभाष्य 'अभिधर्मकोष' तथा अज्ञातकर्तृक 'अभिधर्मदीप' एवं उसकी विभाषाप्रभा नाम की वृत्ति में है। यह तुलना आध्यात्मिक चिन्तन के पुरातन स्तर की सूचक है।

जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों के सूचक उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

अक्खरस्स अणंतो भागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा। सुट्ठु वि मेहसमुदए होइ पभा चंदसूराणं।

—नन्दीसूत्र सू. ४३ (मलयगिरि-टीका वाली आवृत्ति, पृ. १९५)।

सो पुण सव्वजहन्नो चेयण्णं नावरिज्जइ कयाइ।
उक्कोसावरणम्मि वि जलयच्छन्नक्कभासो व्व ॥४९८॥

—विशेषावश्यकभाष्य।

इनके अतिरिक्त देखो 'आवश्यकचूर्णि' पत्र ३० ब।

'अभिधर्मकोष' १.४१ के भाष्य में—

……समेधामेघरात्रिदिवरूपदर्शनवत् क्लिष्टाक्लिष्टलौकिकीशैक्ष्याशैक्षीभिर्दृष्टिभिर्धर्मदर्शनम्।

'अभिधर्मदीप' १.४३ एवं उस की विभाषाप्रभा नामकी टीका में—

समेघामेघराज्यह्नोर्दृश्यं चक्षुर्यथेक्षते।
क्लिष्टाक्लिष्टदृशौ तद्वच्छैक्षाशैक्षे च पश्यतः॥

यथा समेघायां तिमिरपटलावगुण्ठितचन्द्रनक्षत्रचक्रप्रायां रजन्यां रूपाणि दृश्यन्ते तथा क्लिष्टाः पञ्चदृष्टयो ज्ञेयं पश्यन्ति। यथा तु विगतरजांसि निशाकरकिरणांशुकावगुण्ठितायां त्रियामायां रूपाणि दृश्यन्ते, तथा लौकिकी सम्यग्दृष्टिः पश्यति। यथा तु मेघपटलावगुण्ठिते दिवाकरकिरणानुद्भासिते दिवसे रूपाणि दृश्यन्ते, तद्वच्छैक्षी दृष्टिः पश्यति। यथा तु द्रवकनकरसावसेकपिञ्जरदिनकरकिरणप्रोत्सारिततिमिरसंचये दिवसे चक्षुष्मतो देवदत्तस्य रूपं चक्षुरीक्षते, तथा बुद्धानामर्हतां प्रज्ञाचक्षुरविद्याक्लेशोपक्लेशमलदूषिकातिमिरपटलवर्जितं ज्ञेयं पश्यतीति।

अभिनिवेश नहीं रहता और दर्शनभेद के रहने पर भी भिन्न-भिन्न दर्शनों के विभिन्न आन्तरिक-बाह्य कारणों की समझ प्रकट होती है, जिससे उन सभी दर्शनों के प्रति यथार्थ सहानुभूति और समभाव पैदा होता है। इस तत्त्वका विशद निरूपण करने के लिए हरिभद्र ने योगदृष्टिसमुच्चय में शास्त्रों एवं पंथों में प्रचलित मतभेदों और व्याख्याभेदों का भूमिका के भेद के अनुसार विस्तार से समन्वय किया है। हम यहाँ उनमें से कुछ दृष्टान्त उद्धृत करेंगे—

(१) हरिभद्र अपनी आठ दृष्टियों की पतंजलिवर्णित आठ योगांग के साथ तुलना करते हैं।[१४] इस तुलना में उन्होंने यम आदि, अखेद आदि[१५] और अद्वेष आदि[१६] तीन अष्टकों का वर्णन किया है। इसी के साथ, पूर्वनिर्दिष्ट पतंजलि, भास्कर-बन्धु एवं दत्त जैसे योगाचार्यों के नाम दिये हैं।[१७] इस पर से ऐसा प्रतीत होता है कि इन तीन अष्टकों का उक्त तीन आचार्यों के साथ क्रमशः संबंध हो और उसी को उन्होंने अपनी आठ दृष्टियों के साथ जोड़ा भी हो। यह चाहे जो हो, परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि हरिभद्र की तुलनादृष्टि विशेष विस्तृत होती जाती है।

(२) गीता आदि अनेक ग्रन्थों में 'संन्यास' पद बहुत प्रसिद्ध है। हरिभद्र के पहले किसी जैन आचार्य ने इसको स्वीकार किया हो ऐसा नहीं लगता। हरिभद्र इस 'संन्यास' शब्द को अपनाते हैं; इतना ही नहीं, धर्म-संन्यास, योग-संन्यास और सर्व-संन्यास के रूप में त्रिविध संन्यास का निरूपण करके[१८] वे ऐसा सूचित करते हैं कि जैन परम्परा में गुणस्थान के नाम से जिस विकासक्रम का वर्णन आता है वह इस त्रिविध संन्यास में आ जाता है। आगे जाकर हरिभद्र ने असंगानुष्ठान का निरूपण किया है[१९] और वे कहते हैं कि ऐसा अनुष्ठान अनेक परम्पराओं में भिन्न-भिन्न नाम

---

१४. 'योगदृष्टिसमुच्चय' श्लोक १६ से।

१५. खेदोद्वेगक्षेपोत्थानभ्रान्त्यन्यमुद्रुगासंगैः।
युक्तानि हि चित्तानि प्रपंचतो वर्जयेन्मतिमान्।
—योगदृष्टिसमुच्चय श्लोक १६ की टीका में उद्धृत श्लोक।

१६. अद्वेषो जिज्ञासा शुश्रूषा श्रवणबोधमीमांसा।
परिशुद्धा प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिरष्टात्मिका तत्त्वे॥
—योगदृष्टिसमुच्चय श्लोक १६ की टीका में उद्धृत श्लोक।

१७. देखो पादटीप ५।

१८. 'योगदृष्टिसमुच्चय' ९–११ तथा 'योगवासिष्ठसार' (गुजराती) पृ० ३१७ एवं ३२६।

१९. 'योगदृष्टिसमुच्चय' १७३।

से प्रसिद्ध है। वैसे नामों की गिनती करते हुए वे प्रशान्तवाहिता, विसभागपरिक्षय, शिववर्त्म और ध्रुवाध्वा जैसे नाम देते हैं।[२०] ये नाम अनुक्रम से पातंजल, बौद्ध, शैव एवं पाशुपत अथवा तांत्रिक जैसे दर्शनों में प्रसिद्ध हैं।

(३) महाभारत, गीता और मनुस्मृति जैसे अनेक ग्रन्थों का परिशीलन योग-दृष्टिसमुच्चय में देखा जाता है। इनमें से गीता के परिशीलन की गहरी छाप हरिभद्र के मन पर अंकित देखी जाती है। गीता में संन्यास और त्याग के प्रश्न की चर्चा विस्तार से आती है। गीताकार ने मात्र कर्म के संन्यास को संन्यास न कहकर काम्य कर्म के त्याग को संन्यास कहा है,[२१] और नियत कर्म करने पर भी उसके फल के विषय में अनासक्त रहने पर मुख्य भार देकर संन्यास का हार्द स्थापित किया है।[२२] हरिभद्र जैन-परम्परा के वातावरण में ही पनपे हैं। यह परम्परा निवृत्तिप्रधान तो है ही, परन्तु सम्प्रदाय के रूप में व्यवस्थित होने पर उसका बाहरी ढांचा पहले ही से ऐसा बनता रहा है कि जिसमें प्रवृत्तिमात्र के त्याग के संस्कार का पोषण अधिक मात्रा में होता आ रहा था। हरिभद्र ने देखा कि वैयक्तिक अथवा सामाजिक जीवन को सुव्यवस्थित रखने के लिए अनेक प्रवृत्तियां अनिवार्य रूप से करनी पड़ती हैं। उनके सर्वथा त्याग पर अथवा उनकी उपेक्षा पर भार देने से सच्चा त्याग नहीं सधता, बल्कि कृत्रिमता आती है। योग अथवा धार्मिक जीवन में कृत्रिमता को स्थान नहीं हो सकता। इससे उन्होंने गीता में निरूपित संन्यास के दो तत्त्वों का निर्देश योगदृष्टिसमुच्चय में किया है। एक तो है: काम्य तथा फलाभिसन्धि वाले कर्मों का ही त्याग और दूसरा है: नियत एवं अनिवार्य कर्मानुष्ठान में भी असंगता अथवा अनासक्ति। इन दो तत्त्वों को स्वीकार कर उन्होंने इतर निवृत्तिप्रधान परम्पराओं की भांति जैन-परम्परा को भी प्रवृत्ति के यथार्थ स्वरूप का बोध कराया है।

(४) हरिभद्र स्वभाव से ही माध्यस्थ्यलक्षी हैं; इससे वे मिथ्याभिनिवेश या कुतर्कवाद का कभी पुरस्कार नहीं करते। उन्होंने योगदृष्टिसमुच्चय में कुतर्क, विवाद और मिथ्याभिनिवेश के ऊपर जो मार्मिक चर्चा की है[२३] वह, मैं जानता हूं वहां तक, किसी भी भारतीय योग-ग्रन्थ में उस रूप में उपलब्ध नहीं होती। भारतीय योग-परम्पराएँ किसी-न-किसी तत्त्वज्ञान की परम्परा के साथ जुड़ी हुई हैं। तत्त्वज्ञान

---

२०. 'योगदृष्टिसमुच्चय' १७४।
२१. 'गीता' १८.२।
२२. 'गीता' १८.६-६।
२३. 'योगदृष्टिसमुच्चय' १०२-५०।

की परम्पराएँ अपनी सर्वोपरिता सिद्ध करने के लिए एक या दूसरे मुद्दे पर बहुत बार शुष्क वाद में उतर जाती हैं। ऐसा एक सर्वज्ञविषयक शुष्क वाद चिरकाल से चला आता है। प्रत्येक परम्परा अपने मूल प्रवर्तक को सर्वज्ञ मानकर इतर परम्पराओं में कोई न-कोई क्षति बताती आई है। इसलिए प्रत्येक परम्परा के लिए सर्वज्ञत्व का प्रश्न मानों एक प्राण-प्रश्न बन गया है। सर्वज्ञ कौन, सर्वज्ञत्व का स्वरूप क्या इत्यादि मुद्दों के बारे में चलनेवाली तत्त्वज्ञानीय चर्चा आध्यात्मिक साधना या योगमार्ग को भी कलुषित न करे अथवा वैसी चर्चा के कारण योग-साधक कुतर्क-जाल में फँस न जाय ऐसे उदात्त ध्येय से हरिभद्र ने इस सब से अधिक नाजुक मुद्दे को लेकर कुतर्क में न पड़ने की बात असाधारण प्रतिभा एवं निर्भयता से उपस्थित की है।

हरिभद्र कहते हैं कि सर्वज्ञत्व के विषय में चर्चा करनेवाले हम तो हैं अर्वाग्दर्शी या चर्मचक्षु, तो फिर अतीन्द्रिय सर्वज्ञत्व का विशेष स्वरूप हम कैसे जान सकते हैं ?[२४] अतः उसका सामान्य स्वरूप ही जानकर हम योग मार्ग में आगे बढ़ सकते हैं। यह है सामान्य स्वरूप अर्थात् निर्वाण-तत्त्व को जानना और मानना ! ऐसे स्वरूप में कोई नाम, व्यक्ति अथवा पंथ-भेद नहीं हो सकता। निर्वाण-तत्त्व का ज्ञान या आकलन[२५] ही सभी सर्वज्ञवादियों का अभिप्रेत सामान्य तत्त्व है–इतना माना तो सर्वज्ञत्व का स्वीकार हो ही गया; और यह न माना तो सर्वज्ञ शब्द की और सर्वज्ञ-विशेष की बड़ाई हाँकनेवाला कोई भी सर्वज्ञ को मानता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसा कह कर हरिभद्र ने पंथ-पंथ और परम्परा-परम्परा के बीच होने वाले सर्वज्ञ-विषयक विवाद

---

२४. तदभिप्रायमज्ञात्वा न ततोऽर्वाग्दृशां सताम् ।
युज्यते तत्प्रतिक्षेपो महानर्थकरः परः ॥
निशानाथप्रतिक्षेपो यथाऽन्धानामसंगतः ।
तद्भेदपरिकल्पश्च तथैवार्वाग्दृशामयम् ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, १३७–८.

२५. संसारातीततत्त्वं तु परं निर्वाणसंज्ञितम् ।
तद्ध्येकमेव नियमाच्छब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥
सदाशिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च ।
शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्थादेकमेवैवमादिभिः ॥
तल्लक्षणाविसंवादान्निराबाधमनामयम् ।
निष्क्रियं च परं तत्त्वं यतो जन्माद्ययोगतः ॥
ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्नसंमोहेन तत्त्वतः ।
प्रेक्षावतां न तद्भक्तौ विवाद उपपद्यते ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, १२७–३०.

को दूर करने का सरल और बुद्धि-गम्य मार्ग बतलाया है। परन्तु ऐसा मार्ग सूचित करते समय उनके समक्ष कई प्रश्न तो उपस्थित होते ही हैं। यदि तुम कहते हो इस तरह सुगत, कपिल, अर्हन् आदि सभी निर्वाण तत्त्व के ज्ञाता होने से सर्वज्ञ हैं, तो उनमें पंथ एवं उपदेश-भेद कैसे घट सकता है? इसका उत्तर देने में हरिभद्र ने अपने तार्किक बल का पूर्ण रूप से प्रयोग किया है। इस प्रश्न का उत्तर हरिभद्र तीन प्रकार से देते हैं : (१) एक तो यह कि भिन्न-भिन्न सर्वज्ञ के रूप में माने जाने वाले महापुरुषों का जो भिन्न-भिन्न उपदेश है वह विनेय अर्थात् शिष्य अथवा अधिकारी-भेद को लक्ष्य में रख कर दिया गया है।[२६] (२) दूसरा यह कि वैसे महापुरुषों के उपदेश का तात्त्विक दृष्टि से एक ही तात्पर्य होता है, परन्तु श्रोता-जन अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उसे भिन्न-भिन्न रूप से ग्रहण करते हैं; फलतः देशना एक होने पर भी नाना-जैसी दिखाई पड़ती है।[२७] (३) तीसरा यह कि देश, काल, अवस्था आदि परिस्थिति-भेद को लेकर महापुरुष भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दु से अथवा अपेक्षा-विशेष से भिन्न-भिन्न उपदेश देते हैं, परन्तु वह मूल में तो है सर्वज्ञमूलक ही।[२८]

हरिभद्र इतना कहकर ही विरत नहीं होते। वे कहते हैं कि शास्त्र के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान जैसे सामान्य-विषयक ही होता है, वैसे अनुमान के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान भी सामान्य-विषयक ही होता है, अतः अनुमान-ज्ञान के ऊपर सम्पूर्ण आधार नहीं रखा जा सकता। प्रत्येक वादी अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए अनुमान का आश्रय लेता है और उसी को अन्तिम उपाय मानकर उस पर निर्भर रहता है। इससे हरिभद्र ने भर्तृहरि के वचन को उद्धृत करके अपने वक्तव्य का समर्थन किया है कि एक अनुमान से सिद्ध वस्तुविशेष निपुण विद्वान् के द्वारा प्रयुक्त दूसरे अनुमान से ही

---

२६. इष्टापूर्तानि कर्माणि लोके चित्राभिसन्धितः।
नानाफलानि सर्वाणि द्रष्टव्यानि विचक्षणैः॥
चित्रा तु देशनैतेषां स्याद्विनेयाऽऽनुगुण्यतः।
यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, ११३ और १३२.

२७. एकापि देशनैतेषां यद्वा श्रोतृविभेदतः।
अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्यात्तथा चित्राऽवभासते॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, १३४.

२८. यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्तत्कालादियोगतः।
ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलैषापि तत्त्वतः॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, १३६.

खण्डित हो जाती है, तो फिर उस पर पूरा भरोसा कैसे रखा जा सकता है ?[२९] हरिभद्र ऐसी तर्क-सरणी द्वारा कुतर्कवाद और अभिनिवेश से मुक्त रहने का औचित्य बतलाते हैं और मानो अपनी सन्त-प्रकृति उपस्थित करते हों इस तरह भारपूर्वक कहते हैं कि सामान्य जन का भी प्रतिक्षेप अर्थात् तिरस्कार करना आर्यों के लिए शोभास्पद नहीं है तो फिर सर्वज्ञ-जैसे महापुरुष का प्रतिक्षेप कैसे योग्य कहा जा सकता है ? ऐसा प्रतिक्षेप, निन्दा या तिरस्कार तो जिह्वाच्छेद की अपेक्षा भी अधिक खराब है ।[३०] अन्त में हरिभद्र सदाशिव, परब्रह्म, सिद्धात्मा तथा तथता आदि सभी नामों को एक निर्वाण-तत्त्व के बोधक कहकर उस-उस नाम से निर्वाणतत्त्व का निरूपण एवं अनुभव करने वाले की भक्ति के बारे में विवाद करने का निषेध करते हैं । हरिभद्र का यह प्रकरण मानो दार्शनिकों के मिथ्या-अभिनिवेश के पाप का प्रक्षालन करता हो ऐसा प्रतीत होता है ।

(५) गीता में 'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः'[३१] पद आता है । हरिभद्र इस पद को लेकर बुद्धि की अपेक्षा ज्ञान की कक्षा और ज्ञान की अपेक्षा असम्मोह की कक्षा कैसी ऊंची है यह रत्न की उपमा देकर समझाते हैं और अन्त में कहते हैं कि सदनुष्ठान में परिणत होने वाला आगमज्ञान ही असम्मोह है ।[३२]

(६) न्याय और तर्कशास्त्र एक सूक्ष्म विद्या है । दार्शनिक-ज्ञान के लिए वह आवश्यक भी है; परन्तु बहुत बार समत्व न रहने से तर्क कुतर्क भी बन जाता है । वैसे कुतर्क का स्वरूप समझाने के लिए हरिभद्र ने एक बटुक विद्यार्थी के विकल्प का निर्देश किया है । किसी महावत ने सामने से चले आने वाले नौसिखिये तार्किक बटुक

---

२९. यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, १४३.

३०. न युज्यते प्रतिक्षेपः सामान्यस्यापि तत्सताम् ।
आर्यापवादस्तु पुनर्जिह्वाच्छेदाधिको मतः ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय १३९

३१. अ. १०, श्लो. ४ ।

३२. इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धिर्ज्ञानं त्वागमपूर्वकम् ।
सदनुष्ठानवच्चैतदसंमोहोऽभिधीयते ॥
रत्नोपलम्भतज्ज्ञान-तत्प्राप्त्यादि यथाक्रमम् ।
इहोदाहरणं साधु ज्ञेयं बुद्ध्यादिसिद्धये ॥
—योगदृष्टिसमुच्चय ११९–२०

को सम्बोधित करके कहा कि हाथी मार डालेगा, एक ओर हट जाओ! वह बटुक विकल्प-पटु और तर्करसिक था। उसने महावत से कहा कि हाथी अपने साथ सम्पर्क में आनेवाले को मारे या सम्पर्क में न आनेवाले को भी मारे? पहले पक्ष में तो उसे तुझे ही मार डालना चाहिए, क्योंकि तू उसके साथ सम्पर्क में आया हुआ है; और दूसरे पक्ष में मेरी तरह अनेक लोग ऐसे हैं जो उसके सम्पर्क में नहीं आये, तो फिर मुझे ही वह क्यों मारे?[३३] हरिभद्र इस विनोदपूर्ण उदाहरण के द्वारा तत्व-चर्चा में प्रयुक्त होने वाले कल्पना-जाल का निर्देश करके अध्यात्म के साधक को उससे बचने की चेतावनी देते हैं।

कुतर्क एवं अभिनिवेश से निवृत्त हुए बिना योग की परिपक्व भूमिका रूप पांचवीं दृष्टि में प्रवेश शक्य ही नहीं है। इसके पश्चात् तो हरिभद्र ने अनुक्रम से एक से एक ऊंची दृष्टि का निरूपण किया है और उनमें योग के उपर्युक्त आठ अंगों को घटाया है, परन्तु उनके अर्थ का विस्तार करके। इसके अतिरिक्त भी योगदृष्टिसमुच्चय में हरिभद्र ने अनेक ज्ञातव्य एवं अन्यत्र दुर्लभ–ऐसी बातों का भी निर्देश किया है, परन्तु मेरा यह अवलोकन तो उस विषय के जिज्ञासुओं की दृष्टि का उन्मेष करने तक ही मर्यादित है, अतः उसकी विशेष चर्चा के लिए यहां स्थान नहीं है।

योगबिन्दु का परिमाण जैसा बड़ा है, वैसे ही उसमें निरूपित विषय भी अनेक हैं और वे तत्त्वज्ञान एवं योगसाधना की दृष्टि से बहुत महत्त्व के भी हैं; फिर भी इस स्थान पर तो उनमें से खास खास विषयों को लेकर ऐसी चर्चा करने का विचार है जो विशेष जिज्ञासु को योगबिन्दु का आकलन करने के लिए प्रेरित करे—

(१) दार्शनिक परम्पराओं में विश्व के स्रष्टा-संहर्ता के रूप में ईश्वर की चर्चा आती है। कोई वैसे ईश्वर को कर्म-निरपेक्ष कर्ता मानता है, तो कोई दूसरा कर्म-सापेक्ष कर्ता मानता है।[३४] और तीसरा कोई ऐसा भी है जो स्वतंत्र व्यक्ति के रूप

---

३३. जातिप्रायश्च सर्वोऽयं प्रतीतिफलबाधितः।
हस्ती व्यापादयत्युक्तौ प्राप्ताप्राप्तविकल्पवत्॥
—योगदृष्टिसमुच्चय, ९१

३४. ननु महदेतदिन्द्रजालं यन्निरपेक्षः कारणमिति तथात्वे कर्मवैफल्यं सर्वकार्याणां समसमयसमुत्पादश्चेति दोषद्वयं प्रादुःष्यात्। मैवं मन्येथाः।
—सर्वदर्शनसंग्रहगत नकुलीशपाशुपतदर्शन, पृ० ६५

तमिमं परमेश्वरः कर्मादिनिरपेक्षः कारणमिति पक्षं वैषम्यनैर्घृण्यदोषदूषितत्वात्प्रतिक्षिपन्तः केचन माहेश्वराः शैवागमसिद्धान्ततत्त्वं यथावदीक्षमाणाः कर्मादिसापेक्षः परमेश्वरः कारणमिति पक्षं कक्षीकुर्वाणाः पक्षान्तरमुपक्षिपन्ति।
—सर्वदर्शनसंग्रहगत शैवदर्शन, पृ० ६६

में ईश्वर को मानता ही नहीं है।[३५] इस प्रकार ईश्वर के विषय में अनेक प्रवाद प्रचलित हैं, परन्तु वे सभी विश्वसर्जन को लक्ष्य में रखकर प्रवृत्त हुए हैं। योग-परम्परा में ईश्वर का विचार जब उपस्थित होता है, तब वह सृष्टि के कर्ता-धर्ता के रूप में नहीं, किन्तु साधना में अनुग्राहक के रूप में। कई साधक ऐसी अनन्य भक्ति से साधना करने के लिए प्रेरित होते हैं कि स्वतंत्र ईश्वर सम्पूर्णतः अनुग्रहकर्ता है; उसका अनुग्रह न हो तो कुछ करने का मेरा सामर्थ्य है ही नहीं। इस बात को लेकर हरिभद्र ने अपना दृष्टि-बिन्दु उपस्थित करते हुए कहा है कि महेश का अनुग्रह मानें तो भी साधक-पात्र में अनुग्रह प्राप्त करने की योग्यता माननी ही पड़ेगी। वैसी योग्यता के बिना महेश का अनुग्रह भी फलप्रद नहीं बन सकता।[३६] इससे ऐसा फलित होता है कि साधक की योग्यता मुख्य वस्तु है। उसके होने पर ही अनुग्रह के विषय में विचार किया जा सकता है। जब साधक अपनी सहज योग्यता के विकासक्रम में अमुक भूमिका तक पहुंचता है, तभी वह ईश्वर के अनुग्रह का अधिकारी बन सकता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर के अनुग्रह को मानने पर या तो सभी को अनुग्रह-पात्र मानना पड़ेगा, या फिर किसी को भी नहीं। इस प्रकार साधक की योग्यता का तत्व मानने के बाद यह प्रश्न होता है कि अनुग्रहकारी ईश्वर कोई अनादि-मुक्त स्वतंत्र व्यक्ति है अथवा तो स्वप्रयत्न के बल से परिपूर्ण शुद्ध हुआ कोई व्यक्ति है? हरिभद्र कहते हैं कि अनादिमुक्त ऐसे कर्ता ईश्वर की सिद्धि तर्क से शक्य नहीं है;[३७] फिर भी प्रयत्न-सिद्ध शुद्ध आत्मा को परमात्मा मानने में किसी आध्यात्मिक को आपत्ति नहीं है। अतएव वैसे प्रयत्नसिद्ध वीतराग की अनन्यभक्ति के द्वारा जो गुण-विकास होता है उसे ईश्वर का अनुग्रह मानने में कोई हर्ज भी नहीं है।[३८] इस तरह हरिभद्र ने अनु-ग्राहक के रूप में स्वतंत्र ईश्वर को स्वीकार न करने पर भी साधक की योग्यता और वीतराग के आदर्श का अनुगमन इन दोनों के संवाद को साधना में फलावह बतलाया है। ऐसी फलावहता बताते समय उन्होंने कहा है कि वैसा वीतराग चाहे जो हो सकता है, अर्थात् उसका किसी देश, जाति, पंथ या नाम के साथ अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। इस चर्चा के द्वारा हरिभद्र ने साधना में भक्तितत्व की उपयोगिता, साधक की

---

३५. देखो 'भारतीय तत्त्वविद्या', पृ. १०९ और १११।

३६. देखो 'योगबिन्दु', श्लो. २९५ से।

३७. वही, श्लो. ३०३ और ३१०; शास्त्रवार्तासमुच्चय', १९४–२०७।

३८. गुणप्रकर्षरूपो यत् सर्वैर्वन्द्यस्तथेष्यते।
देवतातिशयः कश्चित् स्तवादेः फलदस्तथा॥

—योगबिन्दु, २९८

अपनी पात्रता और आदर्श के अनुसरण की अनिवार्यता–इन सभी तत्त्वों का मध्यस्थ भाव से मेल बैठाया है।

(२) विश्वसर्जन के कारण के रूप में क्या मानना—इस बारे में अनेक प्रवाद पुरातन काल से प्रचलित हैं। काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष आदि तत्त्वों में से कोई एक को, तो कोई दूसरे को कारण मानता है। ये प्रवाद श्वेताश्वतर उपनिषद् (१.२) में तो निर्दिष्ट हैं ही, परन्तु महाभारत[३९] आदि अनेक ग्रन्थों में भी इनका निर्देश है। सिद्धसेन दिवाकर ने इन प्रवादों का समन्वय करके सबकी गणना सामग्री के रूप में कारण कोटि में की है।[४०] परन्तु ये सभी चर्चाएँ सृष्टि के कार्य को लक्ष्य में रख कर हुई हैं; किन्तु हरिभद्र ने योगबिन्दु में इसकी जो चर्चा की है वह तो साधना की दृष्टि से है। उन्होंने अन्त में सामग्रीकारणवाद को स्वीकार करके कहा है कि ये सभी वाद ऐकान्तिक हैं, परन्तु साधना की फलसिद्धि में काल, स्वभाव, नियति, दैव, पुरुषकार इत्यादि सभी तत्त्वों को, अपेक्षा-विशेष से, स्थान है ही[४१] ऐसा कहकर उन्होंने इन सभी आपेक्षिक दृष्टियों का विस्तार से स्पष्टीकरण भी किया है।

(३) भवाभिनन्दिता या भोगरस का नशा जब उतरने लगता है, तभी योगाभिमुखता का बीजवपन होता है—यह बात उपस्थित करते हुए हरिभद्र ने अपने विचार के समर्थन में सांख्याचार्य गोपेन्द्र के मन्तव्य का निर्देश करके कहा है कि गोपेन्द्र जैसे सांख्याचार्य भी शब्दान्तर से यही बात कहते हैं। यह शब्दान्तर यानी पुरुष पर के प्रकृति के अधिकार की निवृत्ति। पुरुष का दर्शन न होने तक ही प्रकृति का सर्जनबल रहता है, उसका दर्शन होते ही वह सर्जन-कार्य से निवृत्त होती है। यह निवृत्ति ही उसकी मोक्षाभिमुखता है।[४२] हरिभद्र सांख्य एवं जैन परिभाषा की तुलना करते हुए

---

३९. कालवाद के लिए 'महाभारत' गत शान्तिपर्व के अध्याय २५,२८,३२,३३, आदि; यदृच्छावाद के लिए उसी में अध्याय ३२, ३३; स्वभाववाद के लिए भी उसीमें अध्याय २५। विशेष के लिए देखो 'गणधरवाद' प्रस्तावना पृ. ११३–७।

४०. देखो 'सन्मतितर्क' काण्ड ३, गाथा ५३ और उसकी टीका के टिप्पण।

४१. देखो 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' श्लोक १६४–९२; 'योगबिन्दु' श्लोक १९७, २७५, २९२, ३१३।

४२. देखो इसी व्याख्यान की पादटीप ६, तथा–

एवं लक्षणयुक्तस्य प्रारम्भादेव चापरैः।
योग उक्तोऽस्य विद्वद्भिर्गोपेन्द्रेण यथोदितम्॥
योजनाद् योग इत्युक्तो मोक्षेण मुनिसत्तमैः।
स निवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः॥

—योगबिन्दु २००–१

कहते हैं कि सांख्य जिसे प्रकृति के अधिकार की निवृत्ति कहते हैं उसीको जैन कर्म-प्रकृति की तीव्रता का ह्रास कहते हैं।[४३] हरिभद्र का यह तुलनात्मक दृष्टिबिन्दु सांख्य और जैन-परम्परा के बीच देखी जाने वाली अनेकविध समानता को विशेष अभ्यासी के लिए प्रेरणादायी बन सकता है।

(४) बौद्ध परम्परा की – खास करके महायान की – एक परिभाषा के साथ जैन परिभाषा की तुलना करके हरिभद्र ने जो सार निकाला है वह उनकी गहरी सूझ बतलाता है। महायानी बौद्धों में 'बोधिसत्त्व' पद प्रसिद्ध है। जो चित्त केवल अपनी मुक्ति में ही कृतार्थता न मानकर सबकी मुक्ति का आदर्श रखता है और उसी आदर्श की सिद्धि का संकल्प करता है वह चित्त बोधिसत्व है। हरिभद्र कहते हैं कि यही बात जैन-परम्परा में 'सम्यग्दृष्टि' पद से कही गई है। जब कोई जीव अपने ऊपर छाये हुए तीव्र क्लेशावरण के मन्द होने पर तथा मोहग्रन्थि का भेद होने पर योगाभिमुख होता है, तब वह अपने उद्धार के साथ विश्वोद्धार का भी महान् संकल्प करता है। जैन-परिभाषा के अनुसार ऐसा संकल्प करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव ही बौद्ध-परिभाषा के अनुसार बोधिसत्त्व है।[४४] परन्तु साथ ही हरिभद्र ऐसा भी सूचित करते हैं कि सभी

देखो योगबिन्दु—

४३. अत्राप्येतद्विचित्राया: प्रकृतेर्युज्यते परम् ।
इत्थमावर्तभेदेन यदि सम्यग्निरूप्यते ॥१०६॥

.......एतन्निवृत्ताधिकारत्वम् । विचित्रायास्तत्सामग्रीवशेन नानारूपायाः । प्रकृतेः कर्मरूपायाः ।........

प्रकृतेर्भेदयोगेन नासमो नाम आत्मनः ।
हेत्वभेदादिदं चारु न्यायमुद्रानुसारतः ॥१९५॥

प्रकृतेः परपरिकल्पितायाः सत्त्वरजस्तमोरूपायाः स्वप्रक्रियायाश्च ज्ञानावरणादि-लक्षणायाः ।.......

अविद्याक्लेशकर्मादि यतश्च भवकारणम् ।
ततः प्रधानमेवैतत् संज्ञाभेदमुपागतम् ॥३०५॥

तथा देखो शास्त्रवार्तासमुच्चयमें —
अत्रापि पुरुषस्यान्ये मुक्तिमिच्छन्ति वादिनः ।
प्रकृतिं चापि सन्न्यायात् कर्म्मप्रकृतिमेव हि ॥२३२॥

४४. अयमस्यामवस्थायां बोधिसत्त्वोऽभिधीयते ।
अन्यैस्तल्लक्षणं यस्मात् सर्वमस्योपपद्यते ॥

कायपातिन एवेह बोधिसत्त्वाः परोदितम् ।
न चित्तपातिनस्तावदेतदत्रापि युक्तिमत् ॥

परार्थरसिको धीमान् मार्गगामी महाशयः ।
गुणरागी तथेत्यादि सर्वं तुल्यं द्वयोरपि ॥

जीव या सत्त्व ऐसे संकल्प के अधिकारी नहीं होते; कोई इससे मन्द अथवा कुछ निम्न कक्षा के संकल्प भी कर सकते हैं और उसके अनुसार सिद्धि भी प्राप्त कर सकते हैं।[४५] हरिभद्र के कथन का मुख्य हार्द तो यह है कि संकल्प एक अक्षोभ्य प्रेरक बल है। वह जितना महान्, उतना ही मनुष्य महान् बन सकता है; परन्तु वे मानसिक विकास के तारतम्य को लक्ष्य में रखकर यह भी सूचित करते हैं कि भिन्न-भिन्न साधकों का संकल्पबल अल्पाधिक भी होता है।[४६] ऐसा निरूपण करते समय उन्होंने जैन-परम्परामें सुविदित तीर्थंकर,[४७] गणधर[४८] और मुण्डकेवली[४९] आदि योगियों की उच्चावच्च अवस्था का स्पष्टीकरण भी किया है।

(५) हरिभद्र ने धर्म के बारे में पारमार्थिकता और व्यावहारिकता का अन्तर समझने के लिये सबको सदा काम में आ सके ऐसी एक कसौटी रखी है। वे कहते हैं कि जो धर्म लोकाराधन या लोकरंजन के लिए पाला जाता है उसे लोकपंक्ति या

यत्सम्यग्दर्शनं बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः।
सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्तद्धन्तैषोऽन्वर्थतोऽपि हि॥
वरबोधिसमेतो वा तीर्थकृद् यो भविष्यति।
तथा भव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्त्वः सतां मतः॥
—योगबिन्दु २७०–७४

४५. सांसिद्धिकमिदं ज्ञेयं सम्यक्चित्रं च देहिनाम्।
तथा कालादिभेदेन बीजसिद्ध्यादिभावतः॥
—योगबिन्दु २७५

४६. अनेन भवनैर्गुण्यं सम्यग्वीक्ष्य महाशयः।
तथाभव्यत्वयोगेन विचित्रं चिन्तयत्यसौ॥
—योगबिन्दु, २८४

४७. मोहान्धकारगहने संसारे दुःखिता बत।
सत्त्वाः परिभ्रमन्त्युच्चैः सत्यस्मिन्धर्मतेजसि॥
अहमेतानतः कृच्छ्राद् यथायोगं कथंचन।
अनेनोत्तारयामीति वरबोधिसमन्वितः॥
करुणादिगुणोपेतः परार्थव्यसनी सदा।
तथैव चेष्टते धीमान् वर्धमानमहोदयः॥
तत्तत्कल्याणयोगेन कुर्वन्सत्त्वार्थमेव सः।
तीर्थकृत्त्वमवाप्नोति परं सर्वार्थसाधनम्॥
—योगबिन्दु, २८५–८

४८. चिन्तयत्येवमेवैतत् स्वजनादिगतं तु यः।
तथानुष्ठानतः सोऽपि धीमान् गणधरो भवेत्॥
—योगबिन्दु, २८९

४९. संविग्नो भवनिर्वेदादात्मनिःसरणं तु यः।
आत्मार्थसम्प्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली॥
—योगबिन्दु, २९०

लोकसंज्ञा कहते हैं,[५०] जो सच्चा धर्म नहीं है; फिर भी एकमात्र धर्म की दृष्टि रख करके ही लोकानुसरण किया जाय तो वह धर्म की यथार्थता में हानिकारक नहीं होता।[५१]

(६) आत्मा आदि अतीन्द्रिय तत्त्व और उनके विविध स्वरूपों के बारे में अनेक वादी तार्किक चर्चा-प्रतिचर्चा करते आये हैं और सत्य के नाम पर परस्पर क्लेश का पोषण करते रहे हैं। यह देखकर हरिभद्र ने निर्भय वाणी में कहा है कि वैसे अतीन्द्रिय तत्त्व योगमार्ग के बिना गम्य नहीं हैं। वाद-ग्रन्थ उनमें सहायक नहीं बन सकते। अपने इस विचार का समर्थन उन्होंने किसी अज्ञात योगी का वचन उद्धृत करके किया है। उस वचन का भाव यह है कि जिन्हें सही अर्थ में निश्चय न हुआ हो और जो सिर्फ परम्परा की मान्यता के ऊपर स्थिर रहकर वाद-प्रतिवाद करनेवाले ग्रन्थमात्र-जीवी हैं वे कभी तात्त्विक स्वरूप जान नहीं सकते, और घानी के बैल की तरह वे खण्डन-मण्डन के चक्र में घूमते ही रहते हैं।[५२] हरिभद्र का यह कटाक्ष गुजराती ज्ञानी कवि 'अखा' की निम्न उक्ति का स्मरण कराता है—

"खट दर्शनना जूजवा मता, मांहोमांहे तेणे खाधी खता,
एकनुं थाप्युं बीजो हणे, अन्यथी आपने अधिको गणे।
अखा ए अन्धारो कूवो, झगड़ो भागी को नव मूओ।"
—अखाना छप्पा, ३

---

५०. लोकाराधनहेतोर्या मलिनेनान्तरात्मना ।
क्रियते सत्क्रिया साऽत्र लोकपंक्तिरुदाहृता ।।
—योगबिन्दु, ८८

५१. धर्मार्थं लोकपंक्तिः स्यात्कल्याणांगं महामतेः ।
तदर्थं तु पुनर्धर्मः पापायाल्पधियामलम् ।।
—योगबिन्दु, ९०

५२. एवं च तत्त्वसंसिद्धेर्योग एव निबन्धनम् ।
अतो यन्निश्चितैवेयं नान्यतस्त्वीदृशी क्वचित् ।।
अतोऽत्रैव महान्यत्नस्तत्तत्तत्त्वप्रसिद्धये ।
प्रेक्षावता सदा कार्यो वादग्रन्थास्त्वकारणम् ।।
उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः ।
भावियोगिहितायोच्चैर्मोहदीपसमं वचः ।।
वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तो निश्चितांस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद्गतौ ।।
—योगबिन्दु, ८४–७

अर्थात् छहों दर्शनों के भिन्न-भिन्न मत हैं, वे आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं। एक के स्थापित किये हुए मत का दूसरा खण्डन करता है और अपने आपको बड़ा समझता है। विभिन्न मत-मतान्तर अन्धेरे कुएँ के सदृश हैं। उनके झगड़े का कभी निबटारा होता ही नहीं है।

(७) हरिभद्र ने धर्मबिन्दु आदि अपने दूसरे ग्रन्थों में सामाजिक धर्मों के आचरण पर जो भार दिया है वह योगबिन्दु में भी है, परन्तु योगबिन्दु में उसकी विशेष स्पष्टता है। इसे देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि हरिभद्र ने जैन और वैसी दूसरी निवृत्तिमार्गी परम्पराओं के वैयक्तिक हित-साधन का दृष्टिबिन्दु देखकर सोचा होगा कि कोई भी व्यक्ति सामाजिक जीवन के सहकार के बिना धर्म का पालन कर ही नहीं सकता। आध्यात्मिक मार्ग पर प्रगति करनी हो तो उसकी पहली शर्त यह है कि सामाजिक धर्म एवं मर्यादाओं का योग्य पालन करके मनुष्य को अपना मन विकसित करना चाहिए और अनेक सद्गुणों को जीवन में उतारना चाहिए। बहुत बार ऐसा होता है कि मनुष्य आध्यात्मिकता के नाम पर अवश्य आचरणीय सामाजिक कर्तव्यों को भी जानबूझ कर छोड़ देता है। ऐसे किसी उदात्त विचार से हरिभद्र ने आध्यात्मिक मार्ग की प्राथमिक तैयारी के रूप में 'पूर्वसेवा'[५३] के नाम से अनेक कर्तव्य सूचित किये हैं। उसमें 'गुरुदेवादिपूजन' (श्लोक १०९) शब्द से अनेक बातें सूचित की हैं। वे कहते हैं कि माता, पिता, कलाचार्य, उनके संबंधी, वृद्ध एवं धर्मोपदेशक—ये सब गुरुवर्ग में आते हैं।[५४] इन सबकी योग्य प्रतिपत्ति अर्थात् सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। देवपूजा के विषय में वे कहते हैं कि महानुभाव गृहस्थों के लिए सब देवों का समुचित आदर कर्तव्य है; इसी से अपने मान्य देव से भिन्न दूसरे देवों के प्रति अरुचि अथवा हीन भाव की वृत्ति दूर हो सकती है।[५५] ऐसी सर्वदेव-नमस्कार की उदात्त वृत्ति अन्त में लाभदायी ही सिद्ध होती है– यह बतलाने के लिए उन्होंने 'चारि

---

५३. योगबिन्दु, श्लोक, १०९ से।

५४. योगबिन्दु, श्लोक, ११०।

५५. अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा ।
गृहिणां माननीया यत् सर्वे देवा महात्मनाम् ॥
सर्वान्देवान्नमस्यन्ति नैकं देवं समाश्रिताः ।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥
—योगबिन्दु, ११७–८

संजीवनीचार' का दृष्टान्त दिया है।[५६] इस दृष्टान्त का भाव ऐसा है: कोई एक स्त्री अपने पति को बस में रखने के लिए किसी के पास से जड़ी-बूटी लेकर और अपने पति को खिलाकर पशु के रूप में उसे चराती थी और वह जब चाहे तब दूसरी जड़ी बूटी से अपने पति को पशु में से पुरुष बना देती थी। एक बार वनस्पति के जंगल में वह स्त्री वारक जड़ी-बूटी भूल गई और गहरे विषाद में डूब गई। इस बीच उस जंगल में से होकर जानेवाले किसी योग्य महानुभाव ने उस स्त्री का दुःख जानकर उद्‌गार निकाला कि इसमें विषाद की क्या बात है? वह वारक जड़ी-बूटी भी वहीं है। सभी वनस्पतियों को चराया जाय तो वह वारक औषधि भी बैल खा जायगा जिससे वह अपने असली रूप में आ सकेगा। यह वाणी सुनकर उस स्त्री ने वैसा ही किया, जिससे वह पुरुष अपने मूल रूप में आ गया। सम्भव है यह दृष्टान्त पुराना हो, परन्तु इसका विनियोग सर्वदेवों के प्रति समान-आदर रखने के भाव में करके हरिभद्र ने भिन्न-भिन्न पंथों के बीच देवों के नाम पर होने वाले झगड़ों को मिटाने का सर्व-धर्म समन्वय सूचक एक सामाजिक मार्ग दिखलाया है।

उन्होंने गुरुओं एवं देवों के प्रति भक्ति-भावना के अतिरिक्त दूसरे एक महत्त्व के सामाजिक कर्तव्य का भी सूचन किया है। वह है रोगी, अनाथ, निर्धन आदि निस्सहाय वर्ग की सहायता करना, परन्तु वह सहायता ऐसी न होनी चाहिए कि जिससे अपने आश्रित जनों की उपेक्षा होने लगे[५७]। आध्यात्मिक अथवा लोकोत्तर धर्म के साथ ऐसे अनेकविध लौकिक कर्तव्यों को संकलित करके हरिभद्र ने जैन परंपरा के प्रवर्त्तक धर्म का महत्त्व जिस विशदता से समझाया है वह निवृत्तिलक्षी जैन-परंपरा में टूटती कड़ी का सन्धान करता है।

(८) जैन-परम्परा में आध्यात्मिक विकासक्रम की सूचक चौदह भूमिकाएं 'गुणस्थान' के नाम से प्रसिद्ध हैं, परन्तु हरिभद्र ने उन भूमिकाओं को योगबिन्दु में अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय इन पाँच भागों में विभक्त करके

---

५६. चारिसंजीवनीचारन्याय एष सतां मतः।
नान्यथाऽत्रेष्टसिद्धिः स्याद्विशेषेणादिकर्मणाम्॥
—योगबिन्दु, ११९

५७. पात्रे दीनादिवर्गे च दानं विधिवदिष्यते।
पोष्यवर्गाविरोधेन न विरुद्धं स्वतश्च यत्॥
—योगबिन्दु, १२१

उनका निरूपण किया है।[५८] इसी के साथ उन्होंने सांख्य-योग परम्परा की सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात इन दो भूमिकाओं की उक्त पाँच भूमिकाओं के साथ तुलना भी की है। वे कहते हैं कि इन पाँच में से आरम्भ की चार सम्प्रज्ञात हैं और अन्तिम असम्प्रज्ञात है। सम्प्रज्ञात भूमिका तक मनोव्यापार चलता है, परन्तु असम्प्रज्ञात अवस्था[५९] प्राप्त होते ही सबीज, क्लेशवृत्ति का नाश होता है। इसी को निर्बीज समाधि कहते हैं। सांख्यानुसारी योगशास्त्र की इस मान्यता के साथ हरिभद्र ने तुलना तो की है, परन्तु जैन और सांख्य तत्त्वज्ञान का मूलगत जो भेद है तथा उसी को लेकर वृत्तिसंक्षय का जो अर्थ जैन-परम्परा के साथ संगत हो सकता है वह भी उन्होंने बतलाया है।[६०]

पतंजलि चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं।[६१] चित्तवृत्ति क्लिष्ट भी होती है और अक्लिष्ट भी। अज्ञान एवं तृष्णा जैसे क्लेशों अथवा मलों के निवारण के बारे में तो किसी का मतभेद है ही नहीं, परन्तु प्रश्न यह है कि क्लेश निर्मूल हों और चित्त में ज्ञान, प्रेम आदि अक्लिष्ट वृत्तियों का चक्र चले, तो क्या उसका भी निरोध करना? इसका उत्तर सांख्य, न्याय, वैशेषिक, अद्वैत, वेदान्ती तथा कई बौद्धों ने प्रायः एक-जैसा ही दिया है। वह उत्तर है: विदेह मुक्ति के समय शरीर की भाँति चित्त या मन का भी सर्वथा विसर्जन। यदि चित्त अथवा मन का ही विलय हो, तो फिर अक्लिष्ट वृत्ति पैदा ही किसमें हो? इससे मुक्त-दशा में विशुद्ध ज्ञान या विशुद्ध आनन्द जैसी वृत्तियों के लिए भी अवकाश है ही नहीं।[६२] हरिभद्र इस मान्यता से अलग पड़कर ऐसा स्थापित करते हैं कि मुक्त दशा में अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध होता है, इसका अर्थ सिर्फ इतना ही हो सकता है कि मानसिक कल्पनाओं और व्यापारों का देह-व्यापार की भाँति विलय, नहीं कि चेतन की सहज एवं निरावरण ज्ञान, प्रेम, आनन्द आदि वृत्तियों का विलय।[६३] हरिभद्र अपना मत स्थापित करते समय जैन-परम्परा-सम्मत आत्मा का परिणामिनित्यत्व युक्तिपूर्वक सिद्ध करते हैं तथा पुरुष अथवा आत्मा की कूटस्थ नित्यता का एवं बौद्ध-सम्मत क्षणिक चित्तसन्तति का प्रतिवाद करते हैं।

---

५८. देखो 'योगबिन्दु' श्लोक ३१।

५९. वही, श्लोक ४१९–२३; तथा योगदर्शनकी यशोविजयजीकी व्याख्या १.१७-८।

६०. देखो 'योगबिन्दु' श्लोक ४०५–१५।

६१. देखो 'योगसूत्र' १.२।

६२. देखो 'योगबिन्दु' श्लोक ४२७ से।

६३. वही, श्लोक ४५६।

(६) क्लेश-निवारण के ध्येय को दृष्टि-समक्ष रखकर ही योगमार्ग की विविध प्रणालिकाएं अस्तित्व में आई हैं, परन्तु उनमें एक ऐसी भ्रान्ति पैदा हो गई है कि मन स्वयं ही क्लेशों का धाम है। फलतः उसमें जो वृत्तियां या कल्पनाएं उदयमान होती हैं वे सभी बन्धनरूप हैं; अतएव मनोव्यापार के सर्वथा अवरोध का नाम ही निर्विकल्प समाधि है। इस तरह क्लेश का नाश करने के लिए प्रवृत्त होने पर क्लेश-रहित वृत्तियों का भी उच्छेद एक योगकार्य माना गया। इसके अनेक अच्छे-बुरे उपाय खोजे गये। इनमें से एक ऐसे उपाय की स्थापना करनेवाला पक्ष अस्तित्व में आया कि ध्यान का मतलब ही यह है कि चित्त को प्रत्येक प्रकार के व्यापार से रोकना। इसी का नाम है विकल्पना-निवृत्ति। इस पक्ष से सम्बन्ध रखने वाली एक मनोरंजक कहानी भोट भाषा में लिखे गये कमलशील के जीवन में से उपलब्ध होती है। होशंग नाम का एक चीनी भिक्षु तिब्बत के तत्कालीन राजा को अपनी योग-विषयक मान्यता इस तरह समझाता था कि ध्यान करने का अर्थ ही यह है कि मन को विचार करने से रोकना। एक बार उस राजा को इस प्रश्न के बारे में सच्चा बौद्ध मन्तव्य क्या है यह जानने की इच्छा हुई। उसने नालन्दा विश्वविद्यालय के विद्वान् कमलशील को तिब्बत में बुलाया। होशंग और कमलशील के बीच शास्त्रार्थ हुआ। मध्यस्थ के स्थान पर राजा था। जो हारे वह जीतने वाले को माला पहनाये और तिब्बत में से चला जाय, ऐसी शर्त थी। होशंग ने अपना पक्ष उपस्थित किया। उस समय कमलशील ने उसके उत्तर में जो कुछ कहा वह मनोविलयवादियों के लिए विचारने जैसा है। कमलशील ने कहा कि मन जिस विषय के विचारों को रोकने का प्रयत्न करेगा वह विषय उसकी स्मृति में आयगा ही। इसके अलावा यदि कोई विचित्र उपायों से मन को सर्वथा कुण्ठित करने का या निष्क्रिय बनाने का प्रयत्न करेगा, तो भी वह थोड़े समय के पश्चात् पुनः विचार करने लगेगा। वह निष्क्रियता ही मन में विद्रोह करके विचार-चक्र चालू करेगी। मन का स्वभाव ही ऐसा है कि वह क्षणभर के लिए भी विचार किये बिना नहीं रह सकता। ऐसा कहकर कमलशील ने बौद्ध-परिभाषा के अनुसार बतलाया कि जो योगी लोकोत्तर प्रज्ञा की भूमिका में जाना चाहता हो अथवा तो सम्बोधप्रज्ञा प्राप्त करने की अभिलाषा रखता हो, उसे तो सम्यक् प्रत्यवेक्षण करनी ही चाहिए। अपने आपकी तथा जगत् की वस्तुओं एवं घटनाओं की प्रत्यवेक्षणा करने का मतलब है उनमें क्षणिकता एवं अनात्मा की भावना करना। यह भावना ही विकल्पना का निरोध है; नहीं कि शून्यता के नाम पर मन को निष्क्रिय एवं कुण्ठित बनाना। कमलशील की इन दलीलों से होशंग, जो प्रज्ञापारमिता का अर्थ

शून्यवाद की दृष्टि से स्वकल्पना के बल पर करता था वह निरुत्तर हो गया और कमलशील की जय हुई।[६४]

कमलशील बोधिसत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित शान्तरक्षित के शिष्य और विशिष्ट व्याख्याकार थे। योगाचार परम्परा में विज्ञानवाद का विकास होने पर जो वज्रयान नाम की शाखा निकली थी उसके ये दोनों गुरु-शिष्य समर्थक थे। वे मानते थे कि मुक्ति दशा में विशुद्ध क्षणिक ज्ञान-सन्तति चालू रहती ही है; ज्ञान-सन्तति का लोप हो ही नहीं सकता। यह उनका महासुखवादी सिद्धान्त है। इस जगह कमलशील की यह कहानी कहने का उद्देश्य इतना ही है कि हरिभद्र और ये विज्ञानवादी इस बारे में सर्वथा एकमत हैं कि मुक्ति अथवा महासुख अवस्था में ज्ञानधारा चालू रहती ही है। हरिभद्र इस ज्ञानधारा को स्थिर आत्मद्रव्य में घटाते हैं,[६५] तो विज्ञानवादी वैसे स्थिर द्रव्य को माने बिना घटाते हैं;[६६] परन्तु ये दोनों विचार इतना तो स्थापित करते ही हैं कि पुरुष, चेतन, आत्मा या ब्रह्म यदि चैतन्यस्वरूप हो तो वह सर्वथा ज्ञान-धारावर्जित हो ही नहीं सकता।

(१०) हरिभद्रने योगबिन्दुमें जैन दृष्टि से सर्वज्ञत्व का स्वरूप स्थापित किया है और कुमारिल, धर्मकीर्ति जैसों के साक्षात् सर्वज्ञत्व के विरोधी विचारों का प्रतिवाद भी किया है।[६७] यहां हरिभद्र के सामने ऐसा प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब वे जैन सम्मत विशेष सर्वज्ञत्व की स्थापना करते हैं, तब वे एक मत-विशेष का पुरस्कार करते हैं, तो इसे एक अभिनिवेश क्यों नहीं कहा जा सकता? स्वयं उन्होंने ही योग-दृष्टिसमुच्चयमें सर्वज्ञविशेष की मान्यता को अभिनिवेश मानकर छोड़ दिया है और सामान्य-सर्वज्ञत्व का ही पुरस्कार करके सभी आध्यात्मिक तत्त्वज्ञों को सर्वज्ञ माना है। तो फिर क्या यह विरोध नहीं है? मुझे विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें विरोध-जैसा कोई तत्व नहीं है। जिस प्रकार पतंजलि ने योगसूत्र के चौथे पाद में अपनी तात्त्विक मान्यता से अलग पड़नेवाली विज्ञानवादी की मान्यता की आलोचना की है, जिस प्रकार योगवाशिष्ठ आदि में ब्रह्माद्वैतका स्थापन और दूसरी मान्यताओं का

---

६४. देखो 'तत्त्वसंग्रह' की प्रस्तावना पृ. १६८।

६५. देखो योगबिन्दु ४२७ से।

६६. प्रभास्वरमिदं चित्तं तत्त्वदर्शनसात्मकम्।
प्रकृत्यैव स्थितं यस्मान्मलास्त्वागन्तवो मताः॥
—तत्त्वसंग्रह, ३४३५

६७. देखो योगबिन्दु ४२७ से।

निषेध है; उसी प्रकार हरिभद्र ने जैन संस्कार से पुष्ट और अपने आपको युक्तियुक्त जंचनेवाली अपनी तात्त्विक मान्यता को तत्त्वदृष्टि का विचार करते समय, तटस्थ-भाव से उपस्थित किया है। उन्होंने उसमें अभिनिवेश न बतलाकर अन्त में कहा है कि मैंने जो कुछ कहा है वह मध्यस्थ दृष्टि से कहा है। यदि विद्वानों को वह युक्त प्रतीत हो तो उस पर वे विचार कर सकते हैं। विद्वत्ता का फल ही यह है कि उसकी दृष्टि में यह सिद्धान्त मेरा और यह पराया, ऐसा पक्ष हो ही नहीं सकता। उसे जो युक्तियुक्त एवं बुद्धिगम्य लगे उसी को वह माने।[६८]

योगदृष्टिसमुच्चय में उनका भार पंथ-पंथ और दर्शन-दर्शन के बीच चलनेवाले शुष्क वाद का निवारण करने पर है। इसीलिए वे सर्वज्ञत्व जैसे नाजुक विषय को लेकर भी कुतर्क-निवृत्ति की बात कहते हैं। एक स्थान पर अर्थात् योगबिन्दु में तटस्थतापूर्वक अपनी मान्यता का निरूपण है, तो दूसरे स्थान पर अर्थात् योगदृष्टिसमुच्चय में अपनी अपनी मान्यता की स्थापना के बहाने दार्शनिकों में चले आने वाले विवादों का निराकरण अभिप्रेत है। वे स्वयं तो योग-विषयक अपने ग्रन्थों में किसी भी जगह आवेश अथवा कदाग्रह दिखलाते ही नहीं हैं। इसे उनकी मध्यस्थता कहनी चाहिए।

यहाँ पर समालोचित हरिभद्र के योग-विषयक चारों ग्रन्थों का उत्तरकाल में कैसा प्रभाव पड़ा है-यह प्रश्न स्वभावतः उठ सकता है। श्री आनन्दघन ने उनके इन ग्रन्थों में से किसी न किसी ग्रन्थ का पयःपान किया हो ऐसा लगता है; परन्तु उपाध्याय यशोविजयजी ने तो उनकी योग-विषयक सभी कृतियों में गहरी डुबकी लगाई है। उनकी 'आठ दृष्टिनी सज्झाय' नाम की गुजराती कृति योगदृष्टिसमुच्चय का सार है,

---

६८. एवमाद्यत्र शास्त्रज्ञैस्तत्त्वतः स्वहितोद्यतैः।
माध्यस्थ्यमवलम्ब्योच्चैरालोच्यं स्वयमेव तु ॥
आत्मीयः परकीयो वा कः सिद्धान्तो विपश्चिताम्।
दृष्टेष्टाबाधितो यस्तु युक्तस्तस्य परिग्रहः ॥
—योगबिन्दु, ५२३-४

इसके साथ आ. हेमचन्द्र द्वारा काव्यानुशासन की स्वोपज्ञ टीका 'विवेक' में उद्धृत (पृ. ६) नीचे के श्लोक की तुलना करो—
उपशमफलाद्विद्याबीजात्फलं धनमिच्छतो
भवति विफलो यद्यायासस्तदत्र किमद्भुतम्।
न नियतफलाः कर्तुर्भावाः फलान्तरमीशते
जनयति खलु व्रीहेर्बीजं न जातु यवाङ्कुरम् ॥

परन्तु वे तो जो गुजराती में लिखते उसे संस्कृत में भी लिखते ही थे। उन्होंने बत्तीस बत्तीसियाँ लिखी हैं, और उन सब पर स्वोपज्ञ टीका भी। वे बत्तीसियाँ यानी आचार्य हरिभद्र के योग-विषयक ग्रन्थों का नवनीत। उन्होंने इन बत्तीसियों का संकलन इस तरह किया है कि जिसमें हरिभद्र के द्वारा प्रतिपादित योग-विषयक समग्र वस्तु आ जाय और विशेष रूप से उन्हें जो कुछ कहना हो उसका भी निरूपण हो जाय। उपाध्यायजी ने अपनी स्वोपज्ञ वृत्ति में अनेक स्थानों पर ऐसे कई मुद्दों का विशेष स्पष्टीकरण किया है जिनका स्पष्टीकरण हरिभद्र की कृतियों की व्याख्या में कम देखा जाता है। उपाध्यायजी की कृतियों का अवगाहन करनेवाले को दो लाभ हैं: एक तो यह कि वह उनके विचारों के सीधे परिचय में आ सकता है, और दूसरा लाभ यह है कि वह उपाध्यायजी के ग्रन्थों के द्वारा ही हरिभद्र की विचारसरणी को पूरी तरह समझ सकता है।

उपसंहार

भारतभूमि में दर्शन एवं योगधर्म के बीज तो बहुत पहले ही से बोये गये हैं। उसकी उपज भी क्रमशः बहुत बढ़ती गई है। अपने समय तक की इस उपज का प्राचीन गुजरात के एक समर्थ ब्राह्मण-श्रमण आचार्य ने जिस तरह संग्रह किया है और उसमें उन्होंने अपने निराले ढंग से जो अभिवृद्धि की है, उसके प्रति विशिष्ट जिज्ञासुओं का ध्यान, इस अल्प प्रयास से भी, आकर्षित हुए बिना नहीं रहेगा ऐसी मेरी श्रद्धा है।

परिशिष्ट–१

आ० हरिभद्र के जीवनवृत्त का आधारभूत साहित्य

१. अनेकान्तजयपताका—प्रस्तावना (अंग्रेजी) : लेखक श्री हीरालाल रसिकलाल कापड़िया; प्रकाशक गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज, बड़ौदा।

२. आवश्यकसूत्र-शिष्यहिता टीका (संस्कृत) : कर्ता हरिभद्रसूरि; प्रकाशक आगमोदय समिति, गोपीपुरा, सूरत।

३. उपदेशपदटीका (संस्कृत) : कर्ता मुनिचन्द्रसूरि; प्रकाशक श्री मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा।

४. उपमितिभवप्रपंचाकथा—प्रस्तावना (अंग्रेजी): लेखक डॉ० हर्मन जेकोबी; प्रकाशक एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बेंगाल, कलकत्ता।

५. कहावली (प्राकृत) : कर्त्ता भद्रेश्वरसूरि। (अप्रकाशित)

६. कुवलयमाला (प्राकृत) : कर्ता उद्द्योतनसूरि अपर नाम दाक्षिण्यचिह्न; प्रकाशक सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई–७।

७. गणधरसार्धशतक (संस्कृत) : कर्ता सुमतिगणी; प्रकाशक झवेरी चूनीलाल पन्नालाल, बम्बई।

८. गुर्वावली (संस्कृत) : कर्ता मुनिचन्द्रसूरि; प्रकाशक श्री यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, बनारस।

९. चतुर्विंशतिप्रबन्ध (संस्कृत) : कर्ता राजशेखरसूरि; प्रकाशक सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई–७।

१०. जैनदर्शन—प्रस्तावना (गुजराती) : लेखक पं० श्री बेचरदास जीवराज दोशी, १२ ब भारती निवास सोसाइटी, एलिस ब्रिज, अहमदाबाद–६।

११. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती) : लेखक श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई; प्रकाशक श्री जैन श्वेताम्बर कॉन्फ्रन्स, पायधूनी, बम्बई–२।

१२. तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन) प्रस्तावना : लेखक पं० श्री सुखलालजी, प्रकाशक जैन संस्कृति संशोधक मण्डल, वाराणसी–५।

१३. धर्मसंग्रहणी-प्रस्तावना (संस्कृत) : लेखक मुनि श्री कल्याणविजयजी; प्रकाशक श्री देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत।

१४. पंचाशकटीका (संस्कृत) : कर्ता अभयदेवसूरि; प्रकाशक श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर।

१५. प्रभावकचरित्र (संस्कृत) : कर्ता प्रभाचन्द्रसूरि; प्रकाशक सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई–७।

१६. प्रभावकचरित्र (गुजराती अनुवाद) प्रस्तावना : लेखक मुनि श्री कल्याणविजयजी; प्रकाशक आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर।

१७. हरिभद्रसूरिका समयनिर्णय (जैन साहित्य संशोधक भाग १, अंक १ में प्रकाशित निबन्ध) : लेखक मुनि श्री जिनविजयजी, अनेकान्तविहार, अहमदाबाद–९।

१८. हरिभद्रसूरिचरित्र – (संस्कृत) : लेखक पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ; प्रकाशक श्री यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर।

१९. समराइच्चकहा – प्रस्तावना (अंग्रेजी) : लेखक डॉ० हर्मन जेकोबी, प्रकाशक एशियाटिक सोसाइटी ऑफ् बंगाल, कलकत्ता।

परिशिष्ट–२

आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों की तालिका *

१. जिन ग्रन्थों के आगे + ऐसा जमा का चिह्न आता है वे अनुपलब्ध हैं, परन्तु उनके नाम दूसरे ग्रन्थों में मिलते हैं।

२. जिन ग्रन्थों के साथ "प्राकृत" लिखा है वे प्राकृत भाषा के हैं; अवशिष्ट संस्कृत भाषा के।

आगम की टीकाएँ

१. अनुयोगद्वार विवृति
+२. आवश्यक बृहत् टीका
३. आवश्यकसूत्र विवृति
४. चैत्यवन्दनसूत्रवृत्ति अथवा ललितविस्तरा
५. जीवाभिगमसूत्र लघुवृत्ति
६. दशवैकालिकटीका
७. नन्द्यध्ययनटीका
+८. पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति †
९. प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या

आगमिक प्रकरण, आचार, उपदेश

१. अष्टकप्रकरण
२. उपदेशपद (प्राकृत)
३. धर्मबिन्दु
४. पंचवस्तु (प्राकृत) (स्वोपज्ञ संस्कृत टीका युक्त)
५. पंचसूत्र व्याख्या
६. पंचाशक (प्राकृत)
+७. भावनासिद्धि
८. लघुक्षेत्रसमास या जम्बूद्वीपक्षेत्रसमासवृत्ति
+९. वर्गकेवलिसूत्रवृत्ति
१०. बीस विंशिकाएं (प्राकृत)
११. श्रावकधर्मविधिप्रकरण (प्राकृत)
१२. श्रावकप्रज्ञप्तिवृत्ति
१३. सम्बोधप्रकरण (प्राकृत)
१४. हिंसाष्टक (स्वोपज्ञ अवचूरियुक्त)

---

* योगशतक परिशिष्ट ६ के आधार पर, कतिपय परिवर्तनों के साथ।

† श्री वीराचार्य-रचित पिण्डनिर्युक्ति टीका की प्रारम्भ की उत्थानिका में स्वयं श्री वीराचार्य के द्वारा किये गये उल्लेख के अनुसार ऐसा ज्ञात होता है कि आ० हरिभद्र ने पिण्डनिर्युक्ति की 'स्थापनादोष' तक की वृत्ति लिखी थी; और अवशिष्ट ग्रन्थ की वृत्ति दूसरे किसी वीराचार्य ने पूर्ण की थी। वे मूल श्लोक इस प्रकार हैं:—

पंचाशकादिशास्त्रव्यूहप्रविधायिका विवृतिमस्याः।
आरेभिरे विधातुं पूर्वं हरिभद्रसूरिवराः ॥७॥
ते स्थापनाख्यदोषं यावद्विवृतिं विधाय दिवमगमन्।
तदुपरितनी च कैश्चिद्वीराचार्यैः समाप्यैषा ॥८॥

दर्शन

१. अनेकान्तजयपताका (स्वोपज्ञ टीका युक्त)
२. अनेकान्तवादप्रवेश
+३. अनेकान्तसिद्धि
+४. आत्मसिद्धि
५. तत्त्वार्थसूत्र लघुवृत्ति
६. द्विजवदनचपेटा
७. धर्मसंग्रहणी (प्राकृत)
८. न्यायप्रवेशटीका
+९. न्यायावतारवृत्ति
१०. लोकतत्त्वनिर्णय
११. शास्त्रवार्तासमुच्चय (स्वोपज्ञ टीका युक्त)
१२. षड्दर्शनसमुच्चय
१३. सर्वज्ञसिद्धि (स्वोपज्ञ टीका युक्त)
+१४. स्याद्वादकुचोद्यपरिहार

योग

१. योगदृष्टिसमुच्चय (स्वोपज्ञ टीका युक्त)
२. योगबिन्दु
३. योगविंशिका (प्राकृत) (बीम विंशिका के अन्तर्गत)
४. योगशतक (प्राकृत)
५. षोडशकप्रकरण

कथा

१. धूर्ताख्यान (प्राकृत)
२. समराइच्चकहा (प्राकृत)

ज्योतिष

१. लग्नशुद्धि-लग्नकुंडलिया (प्राकृत)

स्तुति

१. वीरस्तव
२. संसारदावानल स्तुति (संस्कृत-प्राकृत भाषाद्वयात्मक)

आ. हरिभद्र के नाम पर चढ़े हुए ग्रन्थ

इनके अतिरिक्त अधोलिखित ग्रन्थ आचार्य हरिभद्र के नाम चढ़े हुए हैं, परन्तु इसके निर्णय के लिए अधिक प्रमाणों की अपेक्षा रहती है :-

१. अनेकान्तप्रघट्ट
२. अर्हच्चूड़ामणि
३. कथाकोष
४. कर्मस्तववृत्ति
५. चैत्यवन्दनभाष्य
६. ज्ञानपंचकविवरण
७. दर्शनसप्ततिका
८. धर्मलाभसिद्धि
९. धर्मसार
१०. नाणायत्तक
११. नानाचित्तप्रकरण
१२. न्यायविनिश्चय
१३. परलोकसिद्धि
१४. पंचनियंठी
१५. पंचलिंगी
१६. प्रतिष्ठाकल्प
१७. बृहन्मिथ्यात्वमथन
१८. बोटिकप्रतिषेध
१९. यतिदिनकृत्य
२०. यशोधरचरित्र
२१. वीरांगदकथा
२२. वेदबाह्यतानिराकरण
२३. संग्रहणिवृत्ति
२४. संपंचासित्तरी
२५. संस्कृत आत्मानुशासन
२६. व्यवहारकल्प

शब्द सूची

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१६	हरिभद्र ने	हरिभद्र के
६	१५	(ईसा-पूर्व दूसरी शतीने)	(ईसा-पूर्व दूसरी शती) ने
६	३१	मज्झिमिग्रा	मज्झिमिग्रा
१२	२४	उपदेश की प्रशस्ति.	उपदेशपद की प्रशस्ति
१२	३१	परिशिष्ट २	परिशिष्ट १
१४	२३	रमाण	रममाण
१९	२०	मानाई	मानार्ह
२०	२०	संस्कृत, तद्भव	संस्कृत या तद्भव
२०	२६	सुनीतकुमार चटर्जी	सुनीतिकुमार चटर्जी
२१	१५	विविध शक्ति की	विविध शक्तियों की
२१	१८	अधिष्ठापक	अधिष्ठायक
२२	२५	p. 24	p. 26
२४	१४	से दुट्टिं च मे	से दुट्ठिं च मे
२४	१४	दुस्युयं	दुस्सुयं
२४	२१	अहिंतिया	अहिंसिया
२४	२८	निग्गंशा	निग्गंथा
२४	३४	परिजात्ताई	परिजाणइ
३०	३०	थंरसुसुसा	थेरसुसुसा
३१	२५	··· च्छार्योजतो	··· च्छार्यार्जित
३२	११	धनाडध	धनाढय
५७	१	तक–पुरस्सर	तर्कपुरस्सर
८६	२	शिववर्य	शिववर्म

राजस्थान सरकार

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
(Rajasthan Oriental Research Institute)
जोधपुर

सूची-पत्र

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक – पद्मश्री जिनविजय मुनि, पुरातत्त्वाचार्य

सितम्बर, १९६३ ई०

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक – पद्मश्री मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य

प्रकाशित ग्रन्थ

१. संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश

१. **प्रमाणमंजरी**, तार्किकचूडामणि सर्वदेवाचार्यकृत, सम्पादक – मीमांसान्यायकेसरी पं० पट्टाभिरामशास्त्री, विद्यासागर। मूल्य – ६.००

२. **यन्त्रराजरचना**, महाराजा-सवाईजयसिंह-कारित। सम्पादक-स्व० पं० केदारनाथ ज्योतिर्विद, जयपुर। मूल्य – १.७५

३. **महर्षिकुलवैभवम्**, स्व० पं० मधुसूदनओझा-प्रणीत, भाग १, सम्पादक–म० म० पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी। मूल्य – १०.७५

४. **महर्षिकुलवैभवम्**, स्व० पं० मधुसूदनओझा प्रणीत, भाग २, मूलमात्रम् सम्पादक – पं० श्रीप्रद्युम्न ओझा। मूल्य – ४.००

५. **तर्कसंग्रह**, अन्नंभट्टकृत, सम्पादक – डॉ. जितेन्द्र जेटली, एम.ए., पी-एच. डी., मूल्य–३.००

६. **कारकसंबंधोद्योत**, पं० रभसनन्दीकृत, सम्पादक – डॉ० हरिप्रसाद शास्त्री, एम. ए., पी-एच डी.। मूल्य – १ ७५

७. **वृत्तिदीपिका**, मौनिकृष्णभट्टकृत, सम्पादक–स्व.पं. पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी, साहित्याचार्य। मूल्य – २.००

८. **शब्दरत्नप्रदीप**, अज्ञातकर्तृक, सम्पादक – डॉ. हरिप्रसाद शास्त्री, एम. ए., पी-एच.डी.। मूल्य – २.००

९. **कृष्णगीति**, कवि सोमनाथकविरचित, सम्पादिका – डॉ. प्रियबाला शाह, एम. ए., पी-एच.डी., डी.लिट्। मूल्य – १.७५

१०. **नृत्तसंग्रह** अज्ञातकर्तृक, सम्पादिका – डॉ. प्रियबाला शाह, एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट् मूल्य – १ ७५

११. **शृङ्गारहारावली**, श्रीहर्षकवि-रचित, सम्पादिका–डॉ. प्रियबाला शाह, एम. ए., पी-एच.डी., डी.लिट्। मूल्य – २.७५

१२. **राजविनोदमहाकाव्यम्**, महाकवि उदयराजप्रणीत, सम्पादक–पं० श्रीगोपालनारायण बहुरा, एम. ए. उपसञ्चालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर। मूल्य–२.२५

१३. **चक्रपाणिविजय महाकाव्य**, भट्टलक्ष्मीधरविरचित, सम्पादक–पं० श्रीकेशवराम काशीराम शास्त्री। मूल्य – ३.५०

१४. **नृत्यरत्नकोश(प्रथम भाग)**, महाराणा कुम्भकर्णकृत, सम्पादक–प्रो. रसिकलाल छोटालाल पारीख तथा डॉ० प्रियबाला शाह, एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्। मूल्य–३.७५

१५. **उक्तिरत्नाकर**, साधसुन्दरगणिविरचित, सम्पादक – पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजयजी, पुरातत्त्वाचार्य, सम्मान्य संचालक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर। मूल्य – ४.७५

१६. **दुर्गापुष्पाञ्जलि**, म०म० पं० दुर्गाप्रसादद्विवेदिकृत. सम्पादक – पं० श्रीगङ्गाधर द्विवेदी, साहित्याचार्य। मूल्य – ४.२५

१७. **कर्णकुतूहल**, महाकवि भोलानाथविरचित, इन्हीं कविवर की अपर संस्कृतकृति श्रीकृष्णलीलामृतसहित, सम्पादक–पं० श्रीगोपालनारायण बहुरा, एम. ए., मूल्य – १.५०

१८. **ईश्वरविलासमहाकाव्यम्**, कविकलानिधि श्रीकृष्णभट्टविरचित, सम्पादक–भट्ट श्रीमथुरानाथशास्त्री, साहित्याचार्य, जयपुर। स्व. पी. के. गोडे द्वारा अंग्रेजी में प्रस्तावना सहित। मूल्य – ११.५०

१९. **रसदीर्घिका**, कविविद्यारामप्रणीत, सम्पादक – पं० श्रीगोपालनारायण बहुरा, एम.ए. मूल्य – २.००

२०. **पद्यमुक्तावली**, कविकलानिधि श्रीकृष्णभट्टविरचित, सम्पादक – भट्ट श्रीमथुरानाथ शास्त्री, साहित्याचार्य। मूल्य – ४.००

२१. **काव्यप्रकाशसङ्केत**, भाग १ भट्टसोमेश्वरकृत, सम्पा०–श्रीरसिकलाल छो० पारीख, अंग्रेजी में प्रस्तावना एवं परिशिष्ट सहित मूल्य – १२.००

२२. **काव्यप्रकाशसङ्केत**, भाग २ भट्टसोमेश्वरकृत, सम्पा०–श्रीरसिकलाल छो० पारीख, मूल्य – ८.२५

२३. **वस्तुरत्नकोष**, अज्ञातकर्तृक, सम्पा०–डॉ० प्रियबाला शाह । मूल्य – ४.००

२४. **दशकण्ठवधम्**, पं० दुर्गाप्रसादद्विवेदिकृत, सम्पा०–पं० श्रीगङ्गाधर द्विवेदी । मूल्य – ४.००

२५. **श्री भुवनेश्वरीमहास्तोत्र**, सभाष्य, पृथ्वीधराचार्यविरचित, कवि पद्मनाभकृत, भाष्य-सहित पूजापञ्चाङ्गादिसंवलित । सम्पा०पं, श्रीगोपालनारायण बहुरा । मूल्य – ३.७५

२६. **रत्नपरीक्षादि-सप्त ग्रन्थ-संग्रह**, ठक्कुर फेरू विरचित, संशोधक – पद्मश्री मुनि जिन-विजय, पुरातत्त्वाचार्य । मूल्य – ६.२५

२७. **स्वयंभूछन्द**, महाकवि स्वयंभूकृत, सम्पा० प्रो० एच. डी. वेलणकर । विस्तृत भूमिका (अंग्रेजी में) एवं परिशिष्टादि सहित मूल्य – ७.७५

२८. **वृत्तजातिसमुच्चय**, कवि विरहाङ्करचित; ,, ,, ,, मूल्य – ५.२५

२९. **कविदर्पण**, अज्ञातकर्तृक, ,, ,, ,, मूल्य – ६.००

३०. **कर्णामृतप्रपा**, भट्ट सोमेश्वरकृत सम्पा०–पद्मश्री मुनि जिनविजय । मूल्य – २.२५

३१. **त्रिपुराभारती लघुस्तव**, लघुपण्डितविरचित, सम्पा० ,, मूल्य – ३.२५

३२. **पदार्थरत्नमञ्जूषा**, पं० कृष्णमिश्रविरचिता, सम्पा० ,, मूल्य – ३.७५

३३. **वृत्तमुक्तावली**, कविकलानिधि श्रीकृष्णभट्ट कृत; सं० पं० भट्टश्रीमथुरानाथ शास्त्री । मूल्य – ३.७५

३४. **इन्द्रप्रस्थप्रबन्ध**, सम्पा० डॉ० दशरथ शर्मा, मूल्य – २.२५

२. राजस्थानी और हिन्दी

३५. **कान्हडदेप्रबन्ध**, महाकवि पद्मनाभविरचित, सम्पा० – प्रो० के.बी. व्यास, एम. ए. । मूल्य – १२.२५

३६. **क्यामखां-रासा**, कविवर जान-रचित, सम्पा०–डॉ. दशरथ शर्मा और श्रीअगरचन्द नाहटा । मूल्य–४.७५

३७. **लावा-रासा**, चारण कविया गोपालदानविरचित, सम्पा०–श्रीमहताबचन्द खारैड़ । मूल्य – ३.७५

३८. **बांकीदासरी ख्यात**, कविराजा बांकीदासरचित, सम्पा०–श्रीनरोत्तमदास स्वामी, एम. ए., विद्यामहोदधि । मूल्य – ५.५०

३९. **राजस्थानी साहित्यसंग्रह**, भाग १, सम्पा०–श्रीनरोत्तमदास स्वामी, एम.ए. । मूल्य–२.२५

४०. **राजस्थानी साहित्यसंग्रह**, भाग २, सम्पा०–श्रीपुरुषोत्तमलाल मेनारिया, एम. ए., साहित्यरत्न । मूल्य – २.७५

४१. **कवीन्द्र कल्पलता**, कवीन्द्राचार्य सरस्वतीविरचित, सम्पा० – श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत । मूल्य – २.००

४२. **जुगलविलास**, महाराजा पृथ्वीसिंहकृत सम्पा० – श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत । मूल्य – १.७५

४३. **भगतमाल**, ब्रह्मदासजी चारण कृत, सम्पा०–श्री उदैराजजी उज्ज्वल । मूल्य – १.७५

४४. **राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिरके हस्तलिखित ग्रंथोंकी सूची**, भाग १ । मूल्य – ७.५०

४५. **राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठानके हस्तलिखित ग्रंथोंकी सूची**, भाग २ । मूल्य – १२.००

४६. **मुंहता नैणसीरी ख्यात**, भाग १, मुहता नैणसीकृत, सम्पा०–श्रीबद्रीप्रसाद साकरिया । मूल्य – ८.५०

४७. ,, ,, ,, ,, २, ,, ,, ,, मूल्य – ९.५०

४८. **रघुवरजसप्रकास**, किसनाजी आढाकृत, सम्पा०–श्री सीताराम लालस । मूल्य – ८ २५

४९. **राजस्थानी हस्तलिखित ग्रन्थ-सूची**, भाग १, सं. पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय । मूल्य–४.५०

५०. **राजस्थानी हस्तलिखित ग्रन्थ-सूची**, भाग २ – सम्पा०–श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया एम.ए., साहित्यरत्न । मूल्य – २.७५

५१. **वीरवाण**, ढाढ़ी बादरकृत सम्पा०–श्रीमती रानी लक्ष्मीकुमारी चूंडावत । मूल्य – ४.५०

५२. **स्व० पुरोहित हरिनारायणजी विद्याभूषण-ग्रन्थ-संग्रह-सूची**, सम्पा०–श्रीगोपालनारायण बहुरा, एम. ए. और श्रीलक्ष्मीनारायण गोस्वामी, दीक्षित । मूल्य – ६.२५

५३. सूरज प्रकाश, भाग १–कविया करणीदानजी कृत, सम्पा०–श्री सीताराम लालस । मूल्य – ८.००
५४. „ „ २ „ „ „ „ मूल्य – ६.५०
५५. „ „ ३ „ „ „ „ मूल्य – ६.७५
५६. नेहतरंग, रावराजा बुधसिंह कृत – सम्पा–श्री रामप्रसाद दाधीच एम.ए. मूल्य – ४.००
५७. मत्स्यप्रदेश की हिन्दी-साहित्य को देन, प्रो. मोतीलालगुप्ता एम.ए.,पी–एच.डी. मूल्य–७.००
५८. वसन्तविलास फागु, अज्ञातकर्तृक, सम्पा०–श्री एम. सी. मोदी । मूल्य – ५.५०
५९. राजस्थान में संस्कृत साहित्य की खोज – एस. आर. भाण्डारकर, हिन्दी अनुवादक–श्री ब्रह्मदत्त त्रिवेदी, एम. ए., साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ मूल्य – ३.००
६०. समदर्शी आचार्य हरिभद्र – श्रीसुखलालजी सिंघवी, मूल्य – ३.००

प्रेसों में छप रहे ग्रंथ

संस्कृत

१. शकुनप्रदीप, लावण्यशर्मारचित, सम्पा०–पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय ।
२. बालशिक्षाव्याकरण, ठक्कुर संग्रामसिंहरचित, सम्पा०–पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय ।
३. नन्दोपाख्यान, अज्ञातकर्तृक, सम्पा०–श्री बी.जे. सांडेसरा ।
४. चान्द्रव्याकरण, आचार्य चन्द्रगोमिविरचित, सम्पा०–श्री बी. डी. दोशी ।
५. प्राकृतानन्द, रघुनाथकविरचित, सम्पा०–पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय ।
६. कविकौस्तुभ, प० रघुनाथरचित, सम्पा०–श्री एम. एन. गोरे ।
७. एकाक्षर नाममाला – सम्पा०–मुनि श्री रमणिकविजय ।
८. नृत्यरत्नकोश, भाग २, महाराणा कुंभकर्णप्रणीत, सम्पा०–श्री आर. सी. पारीख और डॉ. प्रियबाला शाह ।
९. हमीरमहाकाव्यम्, नयचन्द्रसूरिकृत, सम्पा०–पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय ।
१०. स्थूलिभद्रकाकादि, सम्पा०–डॉ० आत्माराम जाजोदिया ।
११. वासवदत्ता, सुबन्धुकृत, सम्पा०–डॉ० जयदेव मोहनलाल शुक्ल ।
१२. आगमरहस्य, स्व० प० सरयूप्रसादजी द्विवेदी कृत, सम्पा०–प्रो० गङ्गाधर द्विवेदी ।

राजस्थानी और हिन्दी

१३. मुंहता नैणसीरी ख्यात, भाग ३, मुंहता नैणसीकृत, सम्पा०–श्रीबद्रीप्रसाद साकरिया ।
१४. गोरा बादल पदमिणी चऊपई कवि हेमरतनकृत सम्पा०–श्रीउदयसिंह भटनागर, एम.ए. ।
१५. राठोड़ांरी वंशावली, सम्पा०–पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय ।
१६. सचित्र राजस्थानी भाषासाहित्यग्रन्थसूची, सम्पा०–पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय ।
१७. मीरां-बृहत्-पदावली, स्व० पुरोहित हरिनारायणजी विद्याभूषण द्वारा संकलित, सम्पा०–पद्मश्री मुनि श्रीजिनविजय ।
१८. राजस्थानी साहित्यसंग्रह, भाग ३, संपादक–श्रीलक्ष्मीनारायण गोस्वामी ।
१९. रुक्मिणी-हरण, सांयांजी झूला कृत, सम्पा०-श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया, एम.ए.,सा.रत्न।
२०. सन्त कवि रज्जब : सम्प्रदाय और साहित्य, डॉ० व्रजलाल वर्मा ।
२१. पश्चिमी भारत की यात्रा, कर्नल जेम्स टॉड, अनु० श्रीगोपालनारायण बहुरा, एम.ए.
२२. बुद्धिविलास, बखतराम शाहकृत, सम्पा०–श्रीपद्मधर पाठक, एम. ए.
२३. प्रतापरासो, जाचीक जीवणकृत, सम्पा० प्रो० मोतीलाल गुप्त, एम. ए., पी–एच. डी.

अंग्रेजी

24. **Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts Part I, R.O.R.I. (Jodhpur Collection)**, ed., by Padmashree Jinvijaya Muni, Puratattvacharya.
25. **A List of Rare and Reference Books in the R.O.R.I., Jodhpur,** compiled by P.D.Pathak, M.A.

विशेष – पुस्तक-विक्रेताओं को २५% कमीशन दिया जाता है ।